प्रकाशक
जीतमल लूणिया, मंत्री
सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर

हिन्दी-प्रेमियों से अनुरोध

इस सस्ता-मंडल की पुस्तकों का विषय उनकी पृष्ठ संख्या और मूल्य पर ज़रा विचार कीजिए। कितनी उत्तम और साथही कितनी सस्ती हैं! मंडल से निकली हुई पुस्तकों के नाम तथा स्थाई ग्राहक होने के नियम, पुस्तक के अंत में दिये हुए हैं, उन्हें एक वार आप अवश्य पढ़ लीजिए।

* ग्राहक नम्बर—

* यदि आप इस मण्डल के ग्राहक हैं तो अपना नंबर यहाँ लिख रखिए, ताकि आपको याद रहे। पत्र देते समय यह नंबर ज़रूर लिखा करें।

मुद्रक
जीतमल लूणिया
सस्ता-साहित्य-प्रेस, अजमेर

प्रास्ताविक

मेढ तालुका में मोरगांव नाम का एक छोटा सा मौज़ा है। वहाँ श्रीपाराशर पुराण की एक पोथी मिली है। भीतरी और बाहरी अंगों को देखने पर इस पोथी के कुछ श्लोक, कुछ अध्याय बल्कि सारा पुराण ही प्रक्षिप्त मालूम होता है। अठारह पुराणों में 'पाराशर' पुराण का नामोल्लेख भी नहीं। तब यह उपलब्ध 'पारा शर' पुराण कहाँ से आया? पुराणों की फ़ेहरिस्त गलत है या यह पुराण ही प्रक्षिप्त है? परन्तु प्रक्षिप्तता के विषय में कुछ विक्षिप्त मालूम होने वाले इन प्रश्नों का उत्तर देने के पहले यह अधिक जरूरी है कि पाठकों को इस पुराण के विषय का कुछ ज्ञान कराया जाय। यदि केवल मूल पोथी को ही ज्यों की त्यों छाप देंगे तो उसे कोई न पढ़ेगा। हाँ, कागज के पुरानेपन से पोथी के महत्व का अनुमान करने वाले और पुराने कागज, पोथियां, सिक्के आदि की खोज तथा मनन में अपने खून का पानी कर डालने वाले इतिहास-संशोधक जरूर उसे बड़ी चाव से पढ़ेंगे। पर इससे क्या लाभ होगा? इसलिए हमने यह सोचा कि पहले इस पोथी से कुछ मनोरंजक कहानियों का यथामति अनुवाद करके विद्वानों और जन साधारण का ध्यान इस पोथी की तरफ़ आकर्षित करना चाहिए। अनुवाद करते समय भाव को स्पष्ट करने की तरफ़ विशेष ध्यान रक्खा गया है। पोथी के पहले के कुछ पृष्ठ फट-फटा जाने के कारण मङ्गलाचरण के श्लोक भी अधूरे ही हैं। इसलिए उन्हें इस अनुवाद में छोड़ देना पड़ा है। इसी प्रकार हमें यह भी निःसंकोच कबूल करना पड़ेगा कि कुछ दुर्बोध श्लोक भी छोड़ दिये गये हैं। मूल पुस्तक कभी आगे चलकर छापने का विचार है शायद छपानी ही पड़ेगी। अस्तु।

वामन मल्हार जोशी

विषय-सूची

लागत का ब्यौरा

कागज़	१०८)
छपाई	९८)
बाइंडिंग	१४)
व्यवस्था, विज्ञापन लिखाई आदि खर्च	१४०)
	३६०)

प्रतियाँ २०००

एक प्रति का लागत मूल्य ≡)

आश्रम-हरिणी

पहला अध्याय

दुर्ललित शैशव

॥श्रीगणेशायनमः। श्री पाराशर ऋषि बोले, ऋषिवरो, आपने जो प्रश्न मुझसे पूछा, वही प्रश्न पहले, हिरण्यगर्भ नामक राजा ने एक बार नारदजी से पूछा था। महर्षि नारद ने कहा "आपके प्रश्न का उत्तर फिर कभी दूँगा" और अपने योग बल द्वारा उन्होंने एक विमान वहाँ मँगाया और राजा सहित उसमें बैठ कर वे पुराणों की कथायें सुनाते हुए आकाश की सैर करने लगे। उड़ते-उड़ते शीघ्र ही वे धौम्य ऋषि के आश्रम के पास पहुँचे। वहाँ उन्होंने विमान को नीचे उतारा और आश्रम में प्रवेश करके ऋषि को अभिवादन किया। कुशल-प्रश्न के पश्चात् वार्तालाप होने लगा। उचित प्रस्तावना के बाद उन्होंने वही स्त्री-धर्म विषयक प्रश्न उनसे आदर और नम्रता-पूर्वक पूछा। उसे सुन कर धौम्य ऋषि ने क्षण भर आँखें मूंद कर ध्यान किया और एक लम्बी साँस ले कर कहा "नारदजी, आप तो त्रिकाल-ज्ञाता हैं। आप तो सर्व धर्म-शास्त्र जानते हैं। इसलिए मुझसे आप कोई नई बात नहीं सुन

सकेंगे। हाँ, आपके साथ ये जो अतुल प्रताप और पुण्य-शील हिरण्य गर्भ राजा बैठे हैं उनके लिए जरूर मैं खुद अपनी ही कथा सुना देता हूँ। जब वे उसे सुन चुकेंगे तब हम, इस विषय पर साँगोपाँग विचार करेंगे। यों कह कर धौम्य ऋषि ने यों अपना चरित्र-कथन आरंभ किया। वे बोले—

"राजा, मेरी जीवन-कथा बड़ी ही शिक्षाप्रद है। मेरे माता-पिता कुलीन ब्राह्मण वंश में पैदा हुए थे। अपना विद्याध्ययन समाप्त करके वे अपने गुरु के उपदेशानुसार गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके धर्माचरण करते हुए पुण्य-संपादन करते रहते थे। राजा अग्निरथ की राजधानी अवन्तिका में हमारा निवास-स्थान था। जब मेरी अवस्था नौ वर्ष की हुई तो मेरे पिता ने मुझे पूर्ण-प्रज्ञ ऋषि के आश्रम पर विद्याध्ययन के लिए भेजा। उस समय मेरे माता-पिता को कितना दुःख हुआ उसका वर्णन मैं यहाँ नहीं करूँगा। केवल इतना ही कह देता हूँ कि मुझे पूर्ण-प्रज्ञ गुरु को सौंप कर, जब मेरे पिता लौटे, तब उन्होंने मुझे अपने गुरुदेव की आज्ञा का पालन करने आदि के विषय में उपदेश दे कर कहा "बेटा, चिन्ता न करो। इस चौमासे में तुम्हें घर ले आने के लिए मैं फिर आऊँगा" यह कहते समय उनका कण्ठ भर आया? वे इससे अधिक कुछ न कह सके, आँखों में आँसू छल-छला आये। अन्त में बड़ी मुश्किल से अपने हृदय को कठोर करके मुझे वहीं छोड़कर वे वहाँ से चल दिये। उनके चले जाने पर मुझे मालूम हुआ कि उन्होंने मुझे आश्रम में नहीं बल्कि किसी वन में ही छोड़ दिया है। कुछ दिनों तक मुझे अपनी माता और छोटे भाई-बहनों की खूब याद आती रही और अक्सर मैं एकान्त में अकेला

बैठ कर रोया भी करता। उस विशाल आश्रम में, उस गभस्ति गति को छोड़कर—जो मेरी ही नगरी का था, कोई लड़का मेरी जान पहचान का न था। किन्तु हम दोनों का स्वभाव एक-दूसरे से मेल नहीं खाता था। इससे वह भी मेरे लिए बेगाना था। इस प्रकार कुछ रोज तक तो उस आश्रम में मेरा मन न लगा, परन्तु शीघ्र ही मेरी बराबरी वाले अन्य छात्रों से मेरी मित्रता हो गई। इससे तथा गुरुदेव की प्रेम-पूर्ण पढ़ाई के कारण अध्ययन में भी दिल लग गया। अपने सहाध्यायियों के साथ खेलने और गुरुजी के उपदेशानुरूप अध्ययन करने में मेरा दिल इस तरह लगा कि अब तो घर की याद भी कम आने लगी। अब तो बस मेरे दिल में आश्रम ही आश्रम रह गया। आश्रम के प्रति मुझे केवल प्रेम ही नहीं था, बल्कि अब मेरे हृदय में उसके लिए अभिमान भी उत्पन्न हो गया।

अनध्याय के दिन हम कितने तरह-तरह के खेल खेलते! आश्रम की नजदीक वाली झाड़ियों में तथा पहाड़ियों की चोटियों पर कितना घूमते! उस गंगा तुल्य सरला नदी में जो हमारे आश्रम के पास से बहती थी, हम कितना तैरे हैं! नारद, इन सब बातों की याद आते ही इच्छा होती है कि वह रम्य बाल्यावस्था फिर लौट आवे तो कितना आनन्द आवे। उस समय के मेरे मित्र अब मेरे ही समान वृद्ध हो गये हैं। उनमें से अधिकाँश तो आदरणीय और पूज्य तपस्वी भी बन गये हैं। परन्तु जब कभी हम फिर इकट्ठे होते हैं, तो हमारी सारी गंभीरता और मौन भाग जाता है और वही वर्षों की रुकी हुई आनन्द-धारा बह निकलती है। तब हम बच्चों की भाँति वार्ता-विनोद और हँसी करने लग जाते हैं। उस

समय हमें अपने तत्कालीन साहसों की याद आती है। मंद बुद्धि विद्यार्थियों से जो विनोद करते थे उसकी स्मृति फिर सबको आनन्दित कर देती है। अपने विविध दुर्ललिता (शरारतें) और उनपर गुरुदेव जो दण्ड देते थे, उनकी एक दूसरे को याद दिला-दिलाकर हम अब भी उनकी हँसी उड़ाते हैं। नारद, उस बाल्यावस्था के आनन्द की स्मृति भी हमें अवर्णनीय आनन्द देती है। यही क्यों, उस समय के लड़ाई-झगड़ों, शत्रुता और दुःखों की स्मृति भी विलक्षण आनन्द देती है। अस्तु।

"नारद, यह तो आप जानते ही हैं कि अब इस वृद्धावस्था में उस क्षुद्र अभिमान का तो लेश मात्र भी मुझ में नहीं रहा। फिर यह कहने में कोई हानि नहीं कि 'अन्य छात्रों से मैं अधिक बुद्धिमान था। केवल अधिक बुद्धिमान् ही नहीं वरन् मैं बड़ा साहसी भी था। खेल कूद में भी मैं सदा सर्वप्रथम रहता था। इसलिए अपने समवयस्क छात्रों का मैं "प्यारा नायक" बन गया। आश्रम के आचार्य ही नहीं वरन् स्वयं पूर्ण-प्रज्ञ कुल-पति भी मुझ पर बड़ा प्यार करते थे। पूर्ण-प्रज्ञ ऋषि शब्दों द्वारा अपना प्रेम प्रकट नहीं करते थे। पहले-पहल तो मैं उनसे बड़ा डरता था। उनकी पवित्र और तेजः पुंज उग्रमूर्ति को देखकर ही मेरी उच्छृंखलता भाग जाती और कभी गुस्से में आ कर वे एक दो शब्द कह देते तब तो मैं और भी डर जाता। यही नहीं वरन् मुझे यह मालूम होता कि मैं बड़ा खराब लड़का हूँ और मुझे बड़ी लज्जा मालूम होती।

मैं अभी आपसे कह चुका हूँ कि आश्रम में मेरे नगर का ही गभस्ति गति नामक एक बुद्धिमान छात्र था। उसका स्वभाव मेरे

स्वभाव से बिलकुल उलटा था। वह मुझ जैसा खिलाड़ी नहीं था। वह तो लड़कपन, उच्छृंखलता और शरारत को बिलकुल पसन्द नहीं करता था। क्रीड़ा, विनोद तथा वार्तालाप आदि की अपेक्षा अध्ययन में उसका अधिक ध्यान लगता था। उसकी यह कीर्ति थी कि भगवान् सूर्यनारायण भले ही एक बार प्रातः काल उदय होना भूल जायँ, परन्तु हमारे गभस्ति गति का प्रात-रुत्थान और प्रातः स्नान कभी नहीं चूक सकता। जब गुरुजी पढ़ाते, उस समय कोलाहल करना, अपने पाठ में मन न लगाना, अध्ययन के बाद छात्रों से विनोद-युद्ध करना, गुरुजी के स्वर की नकल करना, आदि बातें उसे अच्छी नहीं लगतीं थी। हमें तो छुट्टी के दिन बड़े प्यारे मालूम होते थे। किन्तु गभस्तिगति उन दिनों भी गुरु से छिप कर अध्ययन करता रहता था। इस स्वभाव-विरोध के कारण हम दोनों के एक ही नगर के निवासी होने पर भी हम में मित्रता नहीं हुई। और फिर कुछ दिनों के बाद तो हम में वैमनस्य भी हो गया।

इस अनबन का कारण देखा जाय तो बहुत ही क्षुद्र था। एक दिन हम छात्रों को खबर लगी कि राजा अग्नि-मित्र मृगया करते-करते आश्रम के समीप आया है। उसके साथ अनेक गवैये, नट, युवतियाँ आदि थीं। हमारी अवस्था उस समय दस-बारह वर्ष की थी। इस अवस्था में भला हमको कामवासना कैसे हो सकती है? हमें तो पुराणों में यही सुन कर आश्चर्य होता कि अप्सरायें अपने रूप-लावण्य से तपस्वियों को कैसे मोहित कर लेती हैं। राजा की युवतियों को देखने की अपेक्षा उसके दो विदूषकों को देखना हमें अधिक पसन्द था। परन्तु हमसे अधिक अवस्था

के जो छात्र थे उनके मुँह से राजा की युवतियों की कीर्ति सुन कर हम लोगों को यह जानने की इच्छा हुई कि स्त्री-सौंदर्य मोहक और उन्मादक क्यों और कैसे हो सकता है! *अग्नि-मित्र राजा के दर्शन करने और उसके आश्रित जनों के गायन-वादन सुनने का भी हम लोग बहुत उत्सुक थे। राजा के आगमन की सूचना पाते ही हमारा ध्यान-अध्ययन से हट गया था। हम इस बात के लिए लालायित हो रहे थे कि उसकी युवतियों, विदूषकगण, आदि को हम कब देख पावेंगे। हमें खबर लगी थी कि दूसरे दिन राजा आश्रम देखने के लिए आने वाला है और 'शिष्टागमनात् अनध्यायः' इस वचन के अनुसार, हमें छुट्टी भी मिलने वाली है। इतना धीरज किसे था जो दूसरे दिन तक राह देखे? फिर यदि अग्निमित्र आश्रम देखने को आवेगा तो वह तो आश्रम देख कर चला जायगा। किन्तु उसका राजसी वैभव अनुचरगण, उसके विदूषकों की नकलें, उनकी चित्र-विचित्र पोषाक आदि हम कैसे देख सकेंगे? और राजा के आश्रम देखकर लौट जाने के बाद यदि हमें छुट्टी मिली भी तो उससे हमें लाभ ही क्या? इस लिए कुलपति के प्यारे शिष्य गभस्तिगति को मध्यस्थ कर के हमने अपनी राज-परिवार-दर्शन की इच्छा कुलपति पर प्रकट की। किंतु उन्होंने उसे कह दिया कि सूर्यास्त के ६ घड़ी पहले अध्ययन बंद होगा, और एक आचार्य जिन्हें-जिन्हें इच्छा होगी उन्हें राजशिविर दिखाने के लिए अपने साथ ले जावेंगे। परंतु सूर्यास्त तक हम

* यहाँ पर एक श्लोक कुछ अश्लील सा हमें प्रतीत हुआ इस लिए उसका अनुवाद हम नहीं दे सकते।

लोग धैर्य कैसे धारण कर सकते थे? फिर भी जो आचार्य हमारे साथ आने वाले थे वे बड़े ही रूखे और चिड़चिड़े मिजाज के आदमी थे। उनके साथ जब-जब कभी हम वन-श्री देखने को गये कभी आनन्द नहीं आया। हमें यह आशा न थी कि वे भगवान् हमें राज युवतियां दिखावेंगे या विदूषकों से छेड़छाड़ करने देंगे अथवा उनको चिढ़ाने के लिए उनकी तरफ देखकर हमें अपनी नाक खजुआने देंगे। इसलिए हम चार-पाँच विद्यार्थियों ने यह तय किया कि छिप कर वृक्ष-वाटिकाओं में से जा कर राज-परिवार की शोभा देखी जाय।

मध्याह्न के एक दो घड़ी बाद हम एक अध्यापक के पास जाकर काव्य ग्रन्थों का अध्ययन किया करते थे। उसके अनन्तर जरत्कारु नामक दूसरे अध्यापक के पास जा कर वेद, व्याकरण-सूत्र आदि पढ़ते थे। ये दूसरे अध्यापक अत्यन्त वृद्ध और अंधे थे। विद्यार्थियों से वे प्रश्न आदि अधिक नहीं पूछते थे। सूत्र की संथा दे कर फिर उसका विवरण सुना देना, यही उनका क्रम था। उन्हें किसी विद्यार्थी के होने का तभी पता लगता जब कोई विद्यार्थी उनसे पूछ-ताछ कर शंका करता। गभस्तिगति, मैं, चन्द्रकान्त, शशपाद इत्यादि सात आठ विद्यार्थियों के सिवा और कोई उनसे कुछ पूछते नहीं थे। शशपाद, मैं, मृगप्लुत और वेतसांग तो पाठ के समय प्रायः खेलते रहते थे। परन्तु इसका उन्हें पता नहीं लगता था। यदि कभी हमारी हँसी सुनकर उन्हें शक होता भी तो वे एक आध प्रश्न पूछकर इस बात की जांच कर लेते कि सचमुच हम ध्यान देकर पढ़ रहे हैं या नहीं। किन्तु हम तो बड़े चालाक थे। उनके प्रश्न का किसी तरह चतुराई के साथ जवाब दे दिया कर उन्हें हम यह निश्चय

करा देते कि हम पाठ बराबर ध्यान लगा कर पढ़ रहे हैं। खुद मैं तो कई वार उनसे मार्मिक शंकायें पूछता और कठिन से कठिन सवालों का सही-सही उत्तर देता। इससे मेरी बुद्धि पर उन्हें विश्वास हो गया और यद्यपि वे यह जानते तो थे कि मैं जबरदस्त खिलाड़ी हूँ तथापि मुझ पर उनका बहुत प्यार था। खिलाड़ीपन को तो वे मेरा बाह्य स्वरूप मानते थे। किन्तु वे यह अच्छी तरह जानते थे कि मेरा अन्तःकरण कोमल है तथा अध्यन में मेरी पूरी पूरी रुचि है। मतलब यह कि अज्ञान का स्वांग बना कर यद्यपि मैं उनसे ऐसे-ऐसे ऊटपटांग सवाल करता कि जिससे सारा वर्ग हंस पड़ता तथापि सरल-स्वभाव गभस्तिगति की अपेक्षा उनका प्रेम मुझ पर ही विशेष था। हाँ, यों ऊपर-ऊपर से अलबत्ता वे मेरी निन्दा किया करते और कभी तो क्रोध का आविर्भाव दिखा कर "शूद्रोऽसि किम्" "मातंगोऽसि किम्" इत्यादि क्रोध सूचक प्रश्न करके "मूढ़" "बर्बर" "शूद्र" इत्यादि अपशब्दों का उच्चारण करके यह दिखा दिया करते कि मेरी उच्छृंखलता गर्हणीय है।

इन अंध गुरु महाराज को धोखा दे कर राज परिवार देखने जाने का निश्चय, शशपाद, मृगप्लुत, मैं और चन्द्रकान्त ने किया। हम जानते थे कि उस दिन वे दो घड़ी वेद पढ़ा कर फिर व्याकरण-सूत्र का विवरण करने वाले थे। २५, ३० छात्रों के जमघट में हम ५, ६ छात्र पाठ की ओर ध्यान दे रहे हैं या नहीं यह मालूम होना उनके लिए असंभव था।

पर शशपाद बोला—"किंतु व्याकरण-सूत्र पढ़ाते समय 'दिवांध महाराज को (गुरुजी का यह व्यंग्य नाम था) तुम्हारी याद जरूर आवेगी। उस समय सिवा तुम्हारे और गभस्तिगति के

और शंका पूछने वाला वहाँ है ही कौन ? भाई, जिस दिन तुम पढ़ने को नहीं आते उस दिन वर्ग सूना मालूम होता है और अध्ययन का समय काटना हमारे लिए कठिन हो जाता है। द्विवांध गुरु महाराज भी इस बात को आज जान जायंगे कि तुम हाजिर नहीं हो।

उसका यह कहना सत्य था। अब क्या करना चाहिए ? मृगप्लुत बोला "इसके लिए एक उपाय है। यह वेतसांग तुम्हारी, मेरी सब की आवाज की हूबहू नकल कर सकता है। यदि गुरु महाराज हम में से किसी की याद करेंगे तो उसी की आवाज की नकल करके यह गुरुजी से एकाध प्रश्न पूछ लेगा। बस, गुरुजी समझ जायंगे कि हां भाई फलां लड़का भी आया है।"

इस बात पर वेतसांग पहले राजी न था। किन्तु मेरे बहुत आग्रह करने पर उसने स्वीकार कर लिया। वह मुझपर बड़ा प्रेम करता था। उसकी नकलों, विनोद, मजाकों को मैं दिल से चाहता था। मैं उसका मजाक और छेड़-छाड़ तो करता था पर साथ ही अध्ययन में उसकी सहायता भी बराबर करता रहता था। मेरा स्वभाव मिलनसार था। मैं गभस्तिगति की तरह बुद्धिमान हो कर भी मन्दबुद्धि छात्रों से हिल-मिल कर रहता था। गभस्ति गति छात्रों की बुरी आदतों को पसन्द नहीं करता था। परन्तु मैं उनकी हँसी-मजाक में शामिल हो कर उनके दूसरे अनेक गुणों की प्रशंसा करता और उनको प्रसन्न रखने की चेष्टा किया करता था। वेतसांग को सभी छात्र मन्दबुद्धि समझते थे। और लंगड़ा होने के कारण लड़के उसको चिढ़ाया भी करते थे। वह अध्ययन में जरूर कुछ मन्द था। चित्र निकालने और दूसरों

की नकल वगैरा बनाने में वह बड़ा ही कुशल था। छेड़-छाड़ करना उसका बाह्यांग था। यह बात मैं, शशपाद आदि चार-पांच छात्र ही जानते थे। आपस में हमारी घनिष्ट मित्रता थी। पहले-पहल यद्यपि उसने हमारे प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया तथापि जब मैंने उससे कहा कि भाई, जो मित्र समय पर काम नहीं आता उसकी मित्रता से लाभ ही क्या ? तब उसने मन में सोचा कि इन लोगों की सहायता न करना कृतघ्नता है और वह हमारे कहे अनुसार करने के लिए तैयार हो गया।

पर उसने फिर एक आशंका पेश की यदि कहीं गभस्तिगति चुगली खाये तब ? 'वे तो धर्म के अवतार हैं। उन्हें यह बात कभी पसन्द नहीं होगी।'

मैंने कहा 'ना, गभस्तिगति इतना नीच नहीं है कि यों ही हमारी चुगली खाये। हां, वह हमारा साथ चाहे न दे, किन्तु खुद जान बूझ कर चुगली तो कभी नहीं खायेगा।' मेरी इस बात से वेतसांग का समाधान हुआ।

इस पर शशपाद ने दूसरी शंका रक्खी "दिवांध गुरु महाराज के वह सुलोचना नाम की लड़की है न, वह अपने पितामह पर भेद खोल देगी तब ?" सुलोचना जरत्कारु गुरुजी की इकलौती नाती थी*। हम जरत्कारु गुरु की कुटि में पाठ पढ़ने जाया करते थे।

---

* जैसा कि प्रायः संस्कृत ग्रन्थों में पाया जाता है, यहाँ पर बाला सुलोचना के अंग प्रत्यंगों का लम्बा चौड़ा वर्णन मूल ग्रन्थ में है। हम यहां पर उसके देने की कोई जरूरत नहीं देखते। हां उसमें एक दो बातें जरूर ध्यान देने योग्य हैं। कमल के समान मुख हरिणी के समान आंखें इत्यादि निश्चित उपमायें तो हैं ही। परन्तु एक श्लोक में लिखा है कि

और वहां उस समय सुलोचना अवश्य ही उपस्थित रहती थी। कभी-कभी वह अपने पितामह के पास जा कर बैठ जाती। और एकाध बार तो वह हमारे साथ-साथ संथा भी ले लेती। हमारी संथायें सुन सुन कर कई ऋचायें और सूत्र उसे कंठस्थ हो गये थे। उसकी उपस्थिति में यदि कहीं वेतसांग ने मेरी आवाज की नक़ल करके रोना शुरू किया और गुरुजी को धोखा देने का यत्न किया तो एक तो वह हँस पड़ेगी और दूसरे उसे अपने बूढ़े बाबा से की गई यह मसखरी सहन भी न होगी। नतीजा यह होगा कि वह गुरुजी से सब भेद खोल देगी। इससे हम तो सब डर गये। और इसलिए किसी को भी ऐसा करने की हिम्मत नहीं हुई। पर इतने ही में हमारा और एक मित्र वहाँ आ पहुँचा। उसने यह सुवार्ता सुनाई कि सुलोचना आज अरुंधती माता के यहां रहने के लिए गई है। शशपाद बोला "सम्भव है, आज स्त्रियों का कोई व्रत का दिन होगा। अदिति माता और उनकी लड़कियां अरुंधती माता के यहां जाती हुई मुझे भी दिखीं तो जरूर थीं।"

सुलोचना-सम्बन्धी डर के दूर होते ही अपने उद्देश को पूरा करने का निश्चय हमने किया। परंतु मृगप्लुत बोला "दिवांध गुरु महाराज अंतर्ज्ञान से" सचसच हाल जान लेंगे तब ?

वह हरिणी की तरह यहां वहां कूदती फिरती थी तो दूसरे एक श्लोक में उस बालिका को बाललता की उपमा दे कर उसकी साड़ी की सुवर्णमय (जरीदार) किनारों को भी दूसरी लता की उपमा लेखक ने दी है जो उस लतोपम सुलोचना के शरीर के आस पास एक नागिन की तरह टेढ़ी मेढ़ी लिपटी हुई दिखाई देती थी।

इस पर शशपाद उसकी कायरता की हँसी उड़ाते हुए बोला "यह तो गभस्तिगति का ही दूसरा भाई निकला।"

और नारद, मैं भी उस समय इतना मूढ़ हो गया कि उसके उस उपहास उड़ाने में शामिल हो गया और मैं भी उसकी खिल्ली उड़ाने लग गया। तथापि मृगप्लुत की शंका दूर न हुई। आखिर उसने हमारा साथ देने से इनकार कर दिया। परंतु हमने इसकी भी परवा न की। ज्यों-त्यों करके काव्य ग्रन्थ का पाठ ले कर हम दिवाँध गुरु के घर जाने के बदले निश्चित समय पर उस झाड़ी में से दबते-छिपते राजा के शिबिर पर गये और राज-परिवार तथा राज-वैभव इत्यादि देख हो तो लिया। किन्तु राजा के विदूषक अलबत्ते हमें कहीं न दिखाई दिये। राज-युवतियों को देखने पर भी हमारी वह शंका ज्यों की त्यों बनी रही कि ये युवतियाँ तपस्वियों को कैसी मोहित कर लेती हैं। शशपाद ने जोर से कहा—"ये सुंदरी हैं तो क्या हुआ? हम लोग इनका कहना क्यों कर मानें?" पर हमें सच्चा आनन्द तो राजा के गायकों से प्राप्त हुआ। हमारे आचार्यों के वेद-पठन में एक प्रकार का माधुर्य और पावित्र्य भी होता है। लेकिन इन राजगायकों का गाना हमें उससे कहीं अधिक श्रुति-मनोहर मालूम हुआ। अस्तु राज शिबिर के आस पास दो तीन घंटिका घूम घाम कर हम चोर की तरह फिर आश्रम में आ घुसे।

इधर नित्य के समय पर अंध गुरु जरत्कारु ने छात्रों को वेद पाठ कराना शुरू किया। और उसके बाद व्याकरण-शास्त्र का विवरण आरंभ हुआ। सदा के अनुसार मेरी हँसी या विनोद-युक्त प्रश्न कुछ न सुनाई दिया। इससे गुरु को कुछ सूना-सूना तो जरूर मालूम हुआ। वे बोले "बाल धौम्य; इसका अर्थ तेरी

समझ में आया ?" पर मैं तो वहाँ था ही नहीं। फिर इस प्रश्न का जवाब कौन दे सकता था ? मेरे छिपकर भागने का हाल गभस्ति गति जानता था। उसकी मेरी यद्यपि मित्रता तो नहीं थी तो भी वह इतना नीच नहीं था कि मेरी चुगली खाये। गुरुजी ने पूछा कि वत्स धौम्य, आज तुम क्यों नहीं बोलते ? वेतसाँग सोचने लगा कि अब क्या करना चाहिए। गुरुजी बार-बार मेरा नाम ले कर पुकारने लगे। उत्तर का नाम नहीं। इस प्रकार कुछ समय बीते बाद वेतसाँग को न जाने कहाँ से कुमति सूझी। उसने मेरी आवाज की नकल करके एकाएक रोना शुरू कर दिया। इससे बेचारे अंध गुरुजी समझे कि मैं ही रो रहा हूँ।" बाल धौम्य, रोता क्यों है ? बोलता क्यों नहीं ? यह कह कर के मुझे अपने पास बुलाने लगे। पर वेतसांग पास नहीं गया। मेरे दुःख का कोई भारी कारण होगा, यह समझ कर बेचारे भोले भाले दयालु गुरुजी शशपाद, शुकस्वर इत्यादि मेरे मित्रों से मेरे शोक का कारण पूछने लगे। पर सच-सच तो किसी ने भी नहीं कहा। अन्त में गुरुजी ने मेरा नाम ले कर मुझे अपने पास बुलाया। बेचारा वेतसांग बड़ी उलझन में पड़ गया। क्या किया जाय ? बड़ा ही ढाढ़स करके वह गुरुजी के पास गया। हिचक-हिचक कर रोना शुरू था ही। गुरूजी ने उसके मुँह पर हाथ फेर प्रेम से पूछा, वत्स, क्यों रोता है ? पर किसी ने न कुछ कहा न सुना। वेतसांग और भी अधिक रोने लगा। सच पूछिए तो उसे गुरूजी की बात पर बड़ी हंसी आ रही थी पर फिर भी बड़ी कठिनाई से अपनी हंसी को दबा कर वह रोता ही रहा। रुदन सुनकर जरत्कारु गुरू का अंतःकरण प्रेम से भर आया। ऐसे शोक में उपदेश करना

उचित न समझ कर मेरे शब्द की नकल करने वाले वेतसांग को अपनी जगह पर जा कर बैठने की आज्ञा दी और वह झट बैठ भी गया।

इस तरह वह प्रसंग तो टल गया। किन्तु इस स्वांग की बात सारे आश्रम में फैल गई। धीरे-धीरे वह कुल पति के कान पर भी जा पहुँची। उन्होंने मुझे बुला कर पूछा "मामला क्या है" मैंने सोचा कुलपति को धोखा देना अच्छा नहीं। सब सच्चा हाल उनसे निवेदन कर देना ही ठीक है। परन्तु फिर भी यह ख्याल आया कि ऐसा करना मानो वेतसांग को धोखा देना है जिसने मेरी सहायता करने के लिए यह साहस किया—यह सोच समझ कर मैं बोला—'यह सब झूठ है, षडयंत्र है। मेरे वैरियों का रचा यह जाल है। इन इन कारणों से वे मुझसे शत्रुता रखते हैं।" पर कुलपति तो थे त्रिकालज्ञानी। उनसे भला कोई बात छिपी रह सकती थी? लेकिन न्याय के मार्ग का अवलंबन कर के उन्होंने गभस्तिगति को बुलाया और मेरे सामने पूछा— 'गभस्तिगति बेटा, बताओ सच बात क्या है?' उसने सब भेद खोल दिया, मैंने भी सब अपराध कबूल कर लिया और करुण स्वर में कहा कि अब कभी ऐसा न करूँगा। परन्तु इस डर में मैं थर-थर काँपने लगा कि न जाने अब कुलपति क्या सजा देंगे। किन्तु इस असत्य भाषण के लिए वेतसांग, मैं और इस मामले में शामिल रहने वाले मेरे मित्रों के लिए तीन दिन के उपोषण का ही दंड उन्होंने सुनाया और मेरी तरफ प्रेमपूर्ण नयनों से देख कर कहा 'जात धौम्य, ब्राह्मणानर्हमिदमसत्य भाषणम्। (ब्राह्मण के लिए असत्य भाषण उचित नहीं) 'नत्वत्सदृशमिदम्'

(यह तो योग्य नहीं) यह वाक्य कहते समय गुरुजी ने 'त्वत्सदृश' पद पर और भी अधिक जोर दिया। राजा उनके वह शब्द मेरे हृदय में कैसे चुभे होंगे, इसकी कल्पना तुम्हीं कर सकते हो। मुझे इस काम से बड़ी लज्जा प्राप्त हुई। लेकिन हमने अपने बाल स्वभाव के अनुसार सोचा कि गभस्तिगति ने सब बात कुलपति से कही इसी लिए उनको वह सच मालूम हुई और इस सत्य बोलने के घोर पातक के कारण उसमें और हम लोगों में वैमनस्य पैदा हो गया।

नारद देखो कैसे आश्चर्य की बात कि गभस्तिगति के अच्छे गुणों के लिए ही हम उससे द्वेष करने लग गये लेकिन ऐसा करने में हमें उस समय कुछ बुराई न दिखाई दी। गभस्ति गति को मित्रों की परवा नहीं। वह अहम्मन्य है। इत्यादि-इत्यादि दोष हमें उसमें दिखने लगे। वह अध्ययन शील तो है पर मेरे समान उसकी बुद्धि तेज नहीं है। मेरी मार्मिकता उसमें कहां। वह काव्य के मर्म को नहीं समझता काव्य स्फूर्ति का तो उसमें लवलेश भी नहीं है। इत्यादि शब्दों में दूसरे लड़के मेरी तुलना करने लगे। और स्वभावतः वह तुलना मुझे पसंद भी हुई, और सच जान पड़ी।

पर मेरा क्रोध शांत होने के बाद मुझे अपनी गलती साफ-साफ दिखाई दी। मैं जान गया कि मैं अकारण ही उससे घृणा करता हूँ। अपने असत्य भाषण पर मैं लज्जित होने लगा। इच्छा होती कि गुरुजी को अपना मुँह तक न दिखाऊं और मैंने निश्चय कर लिया कि मेरी बुद्धिमानी की तारीफ जिस प्रकार हो रही उसी प्रकार मेरी सच्चरिता की प्रशंसा हो। बस, पांच छः महीने के भीतर में ही मैंने अपने चरित्र्य से कुलपति को छोड कर और सभी गुरुओं

का प्रेम पूर्ववत् संपादन कर लिया। हे राजा, मैं नहीं कह सकता कि मेरा उच्छृखलता को नष्ट हुई देख कर उन्हें कितना आनंद हुआ। मेरा पापी मन मुझे कोस रहा था। किंतु गुरुजी के हृदय में-जो कि माता के सदृश प्रेम, दया, क्षमा, उदारता आदि से लबालब भरा था, मेरे दुष्कृत्य पर यत्किंचित रोष या द्वेष न था। कुंजपति संबंध में अलबत्ता मैं निश्चय पूर्वक कोई बात नहीं कह सकता। उनका गंभीर किन्तु उग्र चेहरा देखते ही मुझे अपने पाप की याद आ जाती और कई दिन तक उनसे बोलने की मुझे हिम्मत तक न हुई। मैंने अपने मन में ठान लिया कि जब उनका भी प्रेम मैं संपादन कर लूंगा तभी मैं समझूंगा कि मेरा आचरण सुधरा। तबसे अध्ययन आदि का जो दिनक्रम ठहराया था उसका कभी अतिक्रम न होने दिया। कुछ दिनों के बाद मुझे पूरा पश्चताप हुआ। मैं गभस्तिगति के पास गया। और खुले दिल से रोया। और क्षमा-प्रार्थी हुआ। शशपाद, वेनसांग, आदि मित्रों को भी समझाया कि गभस्तिगति से द्वेष करना अनुचित है। उसे छोड़ देना चाहिए। हे नारद, लड़कपन का वैर क्या और मित्रता क्या? वे कै दिन की होती हैं? गभस्तिगति की और मेरी शत्रुता बहुत दिन तक न रही। थोड़े ही दिनों में मेरी उसकी फिर मित्रता होगई। उसके बाद हम दोनों के प्रेम में बाधा न आई न प्रेम का भंग हुआ। वह और मैं साथ साथ अध्ययन करने लगे? उसकी अध्ययन-शीलता दृढ़ निश्चय और पवित्र-प्रेम का अनुकरण मैंने किया। मेरी संगति से उसने भी लाभ उठाया। अनेक क्रीड़ाओं में मैं उसे खींच कर ले जाया करता। गुरुजी का नियत पाठ याद कर लेने के बाद मैं उसे जहाँ चाहता, ले जाया करता। और वह भी

उससे इनकार न करता। मैं कभी-कभी उसका उपहास भी करता, कभी धींगा-धींगी भी करता, परन्तु वह कभी क्रोध नहीं करता था। हाँ यह जरूर था कि गुरुजी का दिया हुआ पाठ जब तक याद न हो जाता, तब तक वह मेरी एक भी न चलने देता था। परन्तु पाठ याद हो जाने पर वह बिलकुल मेरे अधीन था। बात यह थी कि वह सीधा सादा और सरल युवक था। पाठ याद करते समय यदि अन्य छात्र उसे तंग करते तो वह उनको डांट डपट देता। लेकिन मेरे प्रति उसका इतना प्रेम और आदर था कि वह मेरे दिये कष्ट को चुपचाप सहन कर लिया करता। वह मुझसे कहता "तुम्हारी संगति से मैं अधिक निरोगी, उत्साही और आनंदित हो गया हूं।

इति श्री पाराशर पुराणे दुर्ललित शैशवं नाम प्रथमोऽध्यायः समाप्तः। शुभं भवतु।

दूसरा अध्याय

बाल तपो निश्चय

॥ श्री गणेशाय नमः ॥ धौम्य ऋषि ने कहा "राजा हिरण्य गर्भ, गभस्तिगति से मेरी गाढ़ी मित्रता हो जाने पर भी मेरा मन प्रसन्न नहीं था। क्योंकि मुझे इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं था कि कुलपति का रोष मुझ पर है या चला गया। परन्तु उनके मन का हाल कैसे मालूम हो सकता था ? उनके सामने जा कर उनसे रोबरू बातचीत करके उनके मनोभाव जान लेने की हिम्मत तो मुझ में थी ही नहीं।*

एक दिन चण्डप्रभ ऋषि आश्रम देखने के लिए आये। राजा तुम तो जानते ही हो कि ये ऋषि बड़े ही विनोद-प्रिय थे। यथाविधि उनका पूजन-अर्चन होने के बाद कुलपति से कुशल-वार्ता और कुछ तत्त्व-चर्चा भी हुई। उसके बाद हमारे बुद्धितेज की परीक्षा के लिए हम सब छात्र मंडप में बुलाये गये। और उन्होंने सौराष्ट्र देश में किये अपने प्रवास का वर्णन करना आरम्भ किया।

वर्णन के सिलसिले में अपने पास के पिंजरे की तरफ अंगुली

---

* यहाँ पर पोथी का कागज़ फट गया था। इसलिए दो तीन श्लोक छूट गये हैं।

दिखा कर वे बोले "एक दिन एक जगह ये दो सारिकायें मुझे इस यात्रा में मिलीं।" और उन सारिकाओं के विषय में एक आश्चर्य-जनक आख्यायिका वे मुसकराते हुए कथन करने लगे। उन्होंने कहा "इन सारिकाओं का पालन-पोषण एक काक-दंपती के द्वारा हुआ। और इनकी विष्टा से सुवर्ण की उत्पत्ति हुआ करती है।" यह कहकर वे हंसते हुवे फिर बोले "बताओ इन सारिकाओं में और कौओं में ऐसा प्रेम क्यों है ? और भला उनकी विष्टा से सुवर्ण की उत्पत्ति क्यों होती है ? देखें, कौन बता सकता है।"

हम में से एक छात्र ने उत्तर दिया "शायद कौओं के बच्चे मर गये होंगे और वे मूर्ख काग इन सारिकाओं को ही अपने बच्चे समझते होंगे।" दूसरे ने कहा "सारिकाओं का कौओं से पूर्व जन्म का परस्पर प्रेम होगा।" परंतु ये दोनों उत्तर उनको सन्तोष कारक न जान पड़े। तीसरे ने उत्तर दिया "कौवे पहिले जन्म के कोई ऋषि या ऋषि-पुत्र होंगे और किसी पाप के कारण काक-योनि में उन्हें जन्म लेना पड़ा होगा। और उस पाप से मुक्त होने के लिए सारिकाओं के रक्षण द्वारा वे पुण्य संपादन करते होंगे। इस प्रकार अनेक छात्रों ने अनेक उत्तर दिये; परन्तु इनमें से एक भी उत्तर चंद्रप्रभ ऋषि को नहीं जँचा। कुछ सुबुद्ध छात्रों को कौओं के सारिका-पालन तथा काक विष्टा से सुवर्ण पैदा होने पर ही संदेह हुआ। परंतु वे इस डर से बोले कि चंद्रप्रभ ऋषि की बात पर शंका प्रगट करना मानों अपने आप को उनके शाप का पात्र ही बना लेना है। बुद्धिमान गभस्तिगति को भी यही शंका हुई। लेकिन वह भी यह समझ कर कुछ न बोला कि गुरु के वचन में संशय प्रकट करना पाप है। पर यदि प्रश्न का यथायोग्य उत्तर

आश्रम के एक भी छात्र से न बन पड़ा तो आश्रम की और कुलपति की भी बदनामी होगी। यह ख्याल भी तो था ही। मेरा भी जी तो डर ही रहा था। पर मैंने इसी विचार से उसका कुछ खयाल नहीं किया, और किसी तरह साहस करके अपनी शंका प्रकट कर ही तो दी। मैंने कहा "भगवन् ऐसी बातों को बिना आंखों देखे भाले हम कैसे उत्तर दे सकते हैं? इनकी सचाई का क्या सबूत है?

सभी छात्र जानते थे कि चंडप्रभ ऋषि दुर्वासा के समान शीघ्र कोपी हैं। इस लिए उन सभी का यही खयाल था कि मेरे इस साहस पर अब वे रुष्ठ हो कर मुझे जरूर एक आध शाप दे देंगे। परंतु मैं उसी समय जान गया कि मेरे प्रश्न से उन्हें आनंद ही हुआ होगा। क्योंकि उनके गंभीर चेहरे पर रोष के बदले संतोष दर्शक मंदहास्य ही झलकता दिखाई दिया। इसके बाद कुलपति और उनके बीच कुछ हास्ययुक्त संभाषण भी हुवा। फिर कुलपति ने संध्यावंदन के लिए जाने की हमें छुट्टी दे दी।

रात्रि को भोजन के समय कुलपति ने अपने पास बैठे हुए एक सुबुद्धि छात्र से पूछा "आज उस प्रश्न का उत्तर तुमने क्या दिया था?" उस छात्र ने मारे शर्म के मस्तक नीचे झुका लिया। यह देख कर स्वयं कुलपति ही बोले "वह प्रश्न करने में चंडप्रभ ऋषि का हेतु यही था कि तुम लोगों के आत्म-विश्वास की जांच की जायँ। तुम्हें जो कुछ शंकायें हों अपने गुरू से पूछ कर उनका निवारण कर लेना चाहिए। डर से अपने मन की शंका मन में ही रखने से विद्यार्थी के ज्ञान की वृद्धि कभी नहीं होती। किसी भी प्रश्न पर विचार या वाद-विवाद करते समय उस विषय में

मूल-भूत बातें कौन-सी हैं, वे सच हैं या नहीं, उन्हें सच क्यों मानना चाहिए आदि बातों का विचार पहले कर लेना आवश्यक है। पहले मूलभूत प्रमेयों पर विचार करना चाहिए और तब विधानों पर। उनमें से यदि कोई कोई मूलभूत प्रमेय ही तुम्हें अश्रद्धेय या अमान्य हो तो वैसे साफ-साफ कह देना चाहिए। गुरु-वचनों पर श्रद्धा तो जरूर रखनी चाहिए। पर अपनी शंका का समाधान कर लेना भी परम आवश्यक है। इसमें कभी संकोच या डर नहीं रखना चाहिए। और यही पाठ पढ़ाने के लिए चंडप्रभ ऋषि ने तुम्हें ऐसे विचित्र प्रश्न पूछे। आप्त वाक्य एक प्रमाण है सही, परन्तु उसका क्या महत्व है, या उसे कितना महत्व देना चाहिए इन बातों को छोटे बच्चे भले ही न समझ सकें, तथापि सुबुद्ध छात्रों को तो अपने अपने गुरू के सन्निध इन विषयों की चर्चा करनी ही चाहिए। आज प्रिय धौम्य बालक ने उस प्रश्न का जो डांट के उत्तर दिया उससे हमारे आश्रम की बड़ी बात रह गई। लक्ष्मी और विद्या अति भीरू अथवा अति लज्जाशील मनुष्य पर कभी प्रसन्न नहीं हुआ करतीं। इन देवियों को जिस प्रकार आलस्यवान मनुष्यों से घृणा है उसी प्रकार उन्हें अतिभीरु मनुष्यों से भी घृणा है।"

कुलपति के इस विवेचन की तरफ मेरा विशेष ध्यान नहीं था। परन्तु मेरे विषय में बोलते समय जब "प्रिय धौम्य बालक ने" ये शब्द उनके मुँह से निकले तब मेरा ध्यान उनकी बातों की तरफ आकर्षित हो गया। उन शब्दों के सुनते ही मेरी यह शंका, कि कुलपति का मुझ पर जो रोष था वह जाता रहा या उसी तरह बना हुआ है; साफ जाती रही। अब मेरा डर स्वप्न

तुल्य और स्मृति का विषयी ही रह गया। उन शब्दों को सुन कर मुझे अमृत पान के समान आनंद हुआ। मैंने समझा कि आज कुलपति ने मेरा खूब गौरव किया है। मुझे विश्वास हो गया कि उनका अन्तःकरण उदार, क्षमाशील और प्रेम पूर्ण है। अतएव उनको संतोष देना ही अपने जीवन का परम कर्तव्य है, यही मैंने निश्चय कर लिया।

अस्तु, इस तरह मेरा बचपन व्यतीत हुआ। क्रम-क्रम से हर एक शास्त्र में प्राविण्य प्राप्त करते करते मैं १७–१८ साल का हो चुका। मेरा विद्या-व्यासंग अब इतना बढ़ गया कि इस समय खेल कूद की तरफ से मेरा जी उदासीन सा हो गया। पर यह नहीं कि क्रीड़ा-विनोद मैंने बिलकुल ही छोड़ दिया। यह सब मैं करता था, पर परिमित मात्रा में। हमारे गुरु-गण आपस में और कभी-कभी हमारी उपस्थिति में भी कहने लगे कि "गभस्तिगति का और मेरा बर्ताव अन्य सब छात्रों के लिए अनुकरणीय है। बुद्धिमत्ता और विद्या-व्यासंग के विषय में हमारी कीर्ति वहाँ खूब बढ़ गई, यहाँ तक कि हमसे भी अधिक उम्र के छात्र काव्यग्रंथों का अर्थ हमसे पूछा करते थे।

इन दिनों का वर्णन करते हुए मैंने अपने घर का या माता पिता का उल्लेख तक नहीं किया। इससे यह न समझिएगा कि मैं उनको बिलकुल भूल ही गया। नहीं, इसका कारण तो यह है कि उनके विषय में विशेष कुछ कहने लायक कोई घटना ही इन दिनों में नहीं हुई। प्रतिवर्ष श्रावणी के बाद गुरूपदेश सुन कर मैं अपने माता, पिता और बंधु-भगिनी से मिलने के लिए कुछ रोज़ के लिए घर को जाया करता था। उस समय शास्त्राध्ययन में मेरा

प्राविण्य देख कर मेरे पिता को बहुत ही आनंद हुआ करता था। मेरी माता तो मेरा पांडित्य सुनकर यह समझती थी कि मानों मैं एक छोटा सा ऋषि हो गया हूँ। मेरी स्नान-संध्या, मेरा पाठाँतर, मेरी विद्वत्ता, मेरी गंभीरता आदि देख कर वह अपने को कृतार्थ समझती। वह जानती थी कि अध्ययन-अध्यापन ही ब्राह्मणों का धर्म है। परन्तु जब मेरे आश्रम में जाने का समय आता तब उसका यह ज्ञान निरर्थक सा ही हो जाता। मेरे जाने का समय जितना ही बढ़ता उतना ही उसे अच्छा मालूम होता।

मेरे दो छोटे भाई और एक बहन थे। परन्तु मेरे आश्रम जीवन के दिनों में ही अतिसार से पीड़ित हो दैव दुर्विपाक और ईश-क्षोभ से वे तीनों चल बसे। अब मेरे माता-पिता का मैं ही एक लौता बेटा रह गया। इसलिए अब की बार आश्रम को लौटते समय पुत्र-वियोग से माता के हृदय की जो अवस्था हुई उसका वर्णन करना असम्भव है। वह समझदार थी, मेरे पिता से वह बड़ी डरती थी। यदि ऐसा न होता तो मैं कह नहीं सकता कि वह कितनी रोती बिललाती। राजा! घर से बाहर निकल कर ज्योंही मैंने मुड़ कर देखा तो माता का दीन, शोकाकुल मुख मुझे दिखाई दिया। उसकी वह अवस्था देख कर मैंने सोचा कि इसे इस तरह दुःख दे कर आश्रम में जाऊँ या यहीं रह जाऊँ? पर इतने ही में पिताजी ने कहा "चल, आगे बढ़, आगे कोई अच्छा सा मुहुर्त अब नहीं है।" इसलिए मैं—अथवा मैं कहने की अपेक्षा मेरा शरीर ही कहना ठीक होगा, घर से बाहर हो कर आश्रम की राह पर चलने लगा। परन्तु मेरा मन तो घर में—माता में लग रहा था। उसका वह दीन मुख मेरी नज़रा

से हटाये नहीं हटता था। उसके उस शोकाकुल चेहरे की याद आते ही, हे नारद, अभी तक मेरा हृदय शोक से विह्वल हो जाता है। और ऐसा क्यों न हो ? नारद, फिर मुझे मातृ-मुख का दर्शन नसीब न हुआ। मैं आश्रम में पहुँचा नहीं कि उसके स्वर्गवास की दुखद वार्ता मुझे नगर से मिली।"

इस प्रसंग की याद आते ही उस वृद्ध ऋषि के नेत्रों में आँसू भर आये। कुछ समय तक तो उनके मुँह से एक अक्षर भी नहीं निकला। अन्त में आँखे मूंद कर कुछ देर तक उन्होंने ध्यान किया और आँखों पर हाथ फेर कर एक लंबी साँस लेकर उन्होंने फिर अपनी कथा यों आरम्भ की। वे बोले:—

"राजा, मनुष्य का जीवन बड़ा ही आश्चर्य जनक है। उस समय मेरी अवस्था ऐसी हो गई कि मुझे निश्चय हो गया कि अब मेरी सारी आयु इसी प्रकार दुःख में कटेगी। मैं बिलकुल निराश, उदासीन, और विरक्तसा हो गया। मेरी सारी शरारत न जानें कहाँ भाग गई ! उस समय मेरी उम्र लगभग १२-१३ वर्ष की होगी। लेकिन मातृ-वियोग के दुःख के कारण खेल-कूद से मेरा जी बिलकुल हट गया। मित्रों की संगति से—मेरे प्रिय गभस्ति की पवित्र संगति से—मेरा जी हटने लगा, और यही प्रबल इच्छा हुई कि तपश्चर्या करूँ। न ब्रह्मचर्याश्रम की जरूरत है, और गृहस्थाश्रम तो बिलकुल ही नहीं। घोर तपस्या करके इस संसार सागर से छूटने का मैंने निश्चय कर लिया, और यह सोचने लगा कि मेरा यह निश्चय कुलपति पर प्रकट करूँ ?

एक दिन सायंकाल के समय हम सब तापसकुमार अपने गुरु और कुलपति के साथ नदी-तीर पर संध्या-वंदन के लिए

गये। संध्या-वंदन के बाद अपना तपोनिश्चय कुलपति से कहने के विचार से मैंने उनके पास जाने का इरादा कर लिया। तीर पर एक प्रचंड शिलातल पर बैठ करके वे हमेशा संध्यावंदन और ध्यान-मनन इत्यादि किया करते थे। मैं उनके उस पवित्र स्थान की ओर जाने लगा। मैंने दूर से देखा कि इस समय वे आकाशस्थ तारागणों की ओर दृष्टि लगाये किसी विचार में निमग्न है। इस समय जाऊँ या नहीं इस विचार से मैं वहीं रुक गया? आगे बढ़ने की हिम्मत न हुई। इतने में स्वयं गुरुदेव ने ही मुझे देख लिया। और प्रेम पूर्वक मुझे पुकार करके पूछा "बाल धौम्य; क्या चाहते हो ?

मैं बोला—"आज गुरुजी ने ऋषिओं की जो कथायें सुनाई, उन्हें सुनकर मुझे भी तपश्चर्या करने की इच्छा हुई है। आप मुझे मार्ग दिखावें। बस, यही प्रार्थना है।"

वे प्रेपूर्वक मंदस्मित करते हुए बोले—"बेटा धौम्य, तपश्चर्या करना बालकों के लिए विहित नहीं है। न वह उनसे बनेगी ही।"

"क्यों ? ऋष्यशृंगादि ऋषि-कुमारों ने क्या तपश्चर्या नहीं की थी ? उन्होंने की तो मैं भी कर सकूंगा।" मैं नम्रतापूर्वक बोला।

मेरा भाषण सुनकर कुलपति जोर से हंसने लगे। पर फिर भी मैं कहता ही रहा—गुरुदेव आप दिन रात यही उपदेश करते रहते हैं न कि संसार में आकर ब्रह्मपद की प्राप्ति कर लेना चाहिए ? और आत्मज्ञान के बिना ब्रह्मपद की प्राप्ति कैसे संभव है ? और बिना तपश्चर्या के आत्मज्ञान भी कैसे हो सकता है ? यह तो मैंने आपके मुँह से कई बार सुना है कि केवल गृहस्थाश्रम

से ही जीवन सार्थक नहीं होता, आप मुझे आत्मप्राप्ति का मार्ग दिखाइए। बस, मैं तो यही चाहता हूँ।

"परंतु मैंने यह कब कहा कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं करना चाहिए, अभी तेरा विद्याध्ययन तो पूरा नहीं हुआ। यह विचित्र विचार तेरे मस्तिष्क में कहाँ से आ गया? पहले अपना अध्ययन समाप्त कर, फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर, उसके बाद जब तुझे विरक्ति होगी तो तुझे तपोमार्ग दिखा देने के लिए मैं तैयार हूँ। बिना सच्चे वैराग्य के इस मार्ग का अवलंबन करना ठीक नहीं।"

पर उनके इस भाषण से मुझे संतोष न हुआ। इसके विपरीत तप करने का मेरा निश्चय और भी दृढ़ हो गया। उनसे फिर कहा—"गुरुदेव, मुझे अब सच्ची विरक्ति हो गई है। मुझे ऐसा विश्वास हो चुका है। मेरा मन मुझे कह रहा है कि मैं किसी मोह के वश न होऊंगा।"

यह अन्तिम वाक्य सुनकर गुरुदेव को बड़ी हँसी आई। परंतु मेरी बाल्यावस्था के कारण उसका कारण मेरी समझ में नहीं आया। कुछ देर बाद गुरुदेव ने मुझसे कहा "सौम्य, यदि तेरी ऐसी ही इच्छा है तो मेरा कहा मान। आश्रम के पीछे वह वटवृक्ष है न, उसके पास सायंकाल के समय चार-चार घड़ी बैठ कर "ॐकार" का दश सहस्र जप किया कर। परंतु इस बात का ध्यान रखना कि किसी भी मोह का वशवर्ती हो कर स्थान न छोड़ना।"

मैंने बड़े आवेश के साथ कहा "नहीं गुरुदेव, प्राण जाने पर भी वह स्थान न छोड़ूंगा।"

थोड़ी देर के बाद हम आश्रम को लौट आये। दूसरे रोज़

वटवृक्ष के नीचे वाले स्थान को संमार्जन वगैरा करके जप कर्मोचित बना लिया। मुझे यह करते देख कर आश्रम के अन्य बालक भी वहां इकट्ठे हो गये, और पूछने लगे "धौम्य तू यह क्या कर रहा है?" कई छात्र मेरी मजाक उड़ाने लगे। उनकी हंसी को सहन करना मेरे लिए बड़ा कठिन हो गया। जरत्कारु गुरु की पौत्री सुलोचना भी कुछ देर बाद वहाँ आई, और हरिणी के समान अपनी बड़ी-बड़ी निश्चल आँखों से मैं जो कुछ कर रहा था उसकी तरफ देखती रही। वह कुछ न समझ सकी कि मैं झाड़ बोहारा क्यों कर रहा हूँ। मेरे पास आ कर उसने पूछा—"यहाँ कौनसा खेल खेला जायगा?"

"यह जगह मैं खेलने के लिए नहीं, तप करने के लिए तैयार कर रहा हूं।" मैंने जवाब दिया।

"तप! वह क्या चीज है? मैं भी तप करूँगी।" मैंने जवाब दिया "तू अभी बच्ची है।" मानो मैं उस समय बहुत बड़ा आदमी था। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि मेरा कथन उसे सही मालूम हुआ। कुछ देर तक वह देखती खड़ी रही, बाद को चली गई।

शाम को जब वट-वृक्ष के नीचे वाली उस जगह पर, जिसे झाड़-बुहार कर संमार्जन करके स्वच्छ किया था, ऊर्णासन पर बैठकर मैंने जप करना प्रारंभ कर दिया तो कई ऋषि बालक मेरे आस पास खड़े हो गये। कोई मेरी हँसी उड़ाने लगे और कोई चिढ़ाने लगे। गभस्तिगति भी सौम्य रीति से मेरा उपहास करने लगा।

एक छात्र ने तो एक छोटा सा पत्थर ही मुझ पर फेंक मारा। मुझे ऐसा क्रोध आया कि उसे पकड़ कर यथेच्छ पीटूँ। परन्तु कुलपति की इस आज्ञा ने मुझे रोक लिया कि "किसी भी मोह के वश हो कर अपना आसन न छोड़ना।" इसलिए मैंने अपने क्रोध को रोक लिया। मैं कुछ न बोला—मौनावलंबन कर लिया। कुछ देर के बाद सब लड़के खेल खेलने के लिए अन्यत्र चल दिये।

आँखें मूँद कर मैं ॐकार का जप जोर जोर से कर रहा था कि आसपास बिखरी हुई सूखी पत्ती में से एक विचित्र आवाज सुनाई दी। आँखें खोलकर देखा तो एक खासी लंबी नागिन पत्तियों में से हो कर मेरी ओर ही आती हुई दिखाई दी। दूसरी तरफ से भी एक साँप मेरी ओर आता हुआ दिखाई दिया। अब तो जिधर देखूँ उधर ही से साँप दौड़ते हुए आते नजर आये। ऐसे कोई पाँच छः साँप मैंने देखे। अब मैं घबड़ा उठा। ये सब साँप मेरी ही ओर क्यों आ रहे हैं? क्या मैं यहाँ से भाग जाऊँ? पर जाऊँ भी तो कहाँ? सब तरफ से तो साँपों से घिर गया हूँ। अब क्या करूँ? मैं तो गुरुदेव को यह वचन दे चुका हूँ कि अपना स्थान न छोड़ूँगा। फिर चाहे जो हो जाय। मैं बिलकुल धैर्यहीन हो गया। मेरा सारा शरीर पसीने से तर हो गया। पाँव थोथे पड़ गये। आँखों में अँधियारी छा गई। जबान पर ताले पड़ गये। मैंने मन ही मन गुरुदेव का स्मरण किया और उनसे जोर से पूछा कि गुरुदेव इस समय क्या करूँ, स्थान त्याग करूं या नहीं?"

मैंने आवाज सुनी—"बाल धौम्य, घबड़ा नहीं।" आँखें खोल कर देखा तो कुलपति मेरे सामने खड़े थे। लेकिन साँप एक

भी न दिखा। फक्त सुलोचना उनके पास खड़ी थी। वह पूछ रही थी कि "गुरुदेव तप क्या होता है ?"

"गुरुदेव, वे सारे साँप कहाँ गये ?" मैंने पूछा

"यहाँ तो साँप नहीं थे" कुलपति बोले

"अभी तो मैंने अपनी आँखों पाँच-छः साँप देखे।" मैं जोर से बोला।

"जो साँप तू ने देखे वे असली साँप नहीं थे। षड्रिपु थे। षड्रिपु मनुष्य को इसी तरह धर्म-च्युत किया करते हैं। उनको बिना अपने वश किये तपस्या करना ठीक नहीं है। धौम्य, नागिन के भय का नियमन करना तुझे अभी जितना कठिन मालूम हुआ उसी प्रकार युवावस्था में स्त्री-मोह अथवा धन के मोह को जीतना कठिन है।"

"स्त्री-मोह किसे कहते हैं गुरुदेव ?" सुलोचना ने पूछा।

गुरुजी मुसकुरा दिये। मैं भी हँस पड़ा। पर वैसे ही मैंने पूछा "नागिन को देख कर मैं जो डरा इससे यह कैसे माना जा सकता है कि स्त्रियों को देख कर भी मैं मोहांध हो जाऊँगा ? गुरु महाराज, मैं तो ऋष्यशृंग के समान तपोधन होना चाहता हूँ। मेरी इस इच्छा को सफल करना आपके हाथ है।"

"तू सर्प से क्यों डरा ?" कुलपति ने पूछा

इस खयाल से कि "वे मुझे डसेंगे।" मैंने उत्तर दिया

"डँस लेंगे तो क्या हुआ ? आत्म-प्राप्ति के लिए तो तू अपने प्राण देने को भी तैयार है न ? तुझे तपस्या अधिक प्रिय है या जीवन ?

इस पर मैंने कुछ भी न कहा। जवाब भी क्या देता ?

मैं तो निरुत्तर हो गया था। यह देख कुलपति बोले "बेटा सौम्य, इसी भांति यौवनावस्था में तप की अपेक्षा अर्थ और काम अधिक प्रिय होते हैं। और स्वाभिमान तो इनसे भी अधिक भयंकर है। इन बातों को तू अभी नहीं समझ सकेगा। अब मेरा कहा मान और तपस्या वाला यह हठ छोड़ दे। पहिले विद्या पढ़ ले। इसके बाद फिर यदि यही तेरी इच्छा बनी रही तो यहीं आश्रम पर रह कर तू भले ही तपश्चर्या करना। यदि तू बड़ा भारी तपस्वी हो जायगा तो इससे मुझे आनन्द ही होगा।"

इतना कह कर वे वहाँ से चल दिये। कुलपति के प्रति मेरे दिल में बहुत आदर था। और साँपों के डर ने मेरा सारा गर्व हरण कर लिया। इसलिए उस समय उन्हीं का कहा मैंने मान लिया। फिर भी मुझे इस बात का तो बराबर आश्चर्य होता ही रहा कि गुरुदेव ने यह कैसे मान लिया है कि मैं अर्थ और काम के मोह में फँस जाऊँगा! यही नहीं, बरन मेरे प्रति ऐसे संदेह को अपने दिल में स्थान देने के कारण मैंने उन्हें अपने मन ही मन कोसा भी।

इति श्री पाराशरपुराणे बालतपोनिश्चयोनामद्वितीयोध्याय: समाप्तः। शुभं भवतु।

तीसरा अध्याय

परिहासदुर्विपाक

॥श्रीगणेशाय नमः॥ धौम्य ऋषि पुनः बोले—राजन्! वह बाल्यावस्था थी। उन दिनों की स्मृति बड़ी आनन्ददायिनी होती है। हमने इस आश्रम में जो सुखोपभोग किया उसकी तुलना में राजा का सुख कोई चीज नहीं। राजा को कभी न कभी तो जरूर शत्रु की चिन्ता रहती होगी। परन्तु हमें उस समय किसी बात की चिन्ता न थी। दिन-रात—साठों घड़ी आनन्द से कटती थीं।

अध्ययन, वनश्री का देखना, जल-क्रीड़ा तथा अन्य कोई खेल और गुरु के सदुपदेश के श्रवण में बात की बात में सारा दिन व्यतीत हो जाता। इसी तरह दिन, महीने और वर्ष भी बीत जाते। हमारा ज्ञानार्जन जारी था। किन्तु हमें इस कष्टकर बात का कभी अनुभव नहीं होता था कि हम ज्ञानार्जन कर रहे हैं। जिस प्रकार लतादि की कलिका प्रति दिन अपने आप विकसित होती जाती है, उसी प्रकार हमारा विकास भी श्रमहीन था। हमारा अध्ययन हमें कभी कष्ट कर नहीं हुआ। हमारे गुरूजी के अध्ययन में क्रीड़ा का सा आनन्द था और क्रीड़ाओं में नीति के उदात्त तत्त्व भी खेलते-कूदते सिखा दिये जाते थे। बातचीत में अनायास नाना वृक्षों और लताओं के गुण-धर्म बता दिये जाते।

कई बार गुरूजी हमें रात के समय खुले मैदान में ले जाते और वहाँ बैठ कर ग्रह, नक्षत्र, राशि, तारकायें इत्यादि का ज्ञान, एवं उनकी गति को नापने की रीतियाँ भी समझा देते। 'वक्र गति किसे कहते हैं,' 'मार्गी गति के क्या मानी है,' इत्यादि बातें विशद-रूप से समझा देते। भिन्न-भिन्न ग्रहों के विषय में जो पौराणिक कथायें हैं, उनकी भी आवृत्ति हो जाती। उनसे क्या शिक्षा लेनी चाहिए यह भी वे अप्रत्यक्ष रीति से समझा देते। मतलब यह कि हमारे गुरु हमें पिता के समान ही जान पड़ते थे। अस्तु, नारद, बचपन के उन दिनों की याद आते ही तपश्चर्या से प्राप्त मौन-प्रियता न जाने कहाँ भाग जाती है। जी चाहता है कि सभी बातें कह डालूँ। किन्तु आज सिर्फ एक ही मनोरंजक बात तुम्हें सुनाता हूँ।

हमारे आश्रम से दो योजन पर 'क्षीरोदक' नाम का एक सुन्दर निर्मल सरोवर था। उसके किनारे पर अम्बिका का एक मंदिर है। चैत्र शुक्ल सप्तमी, अष्टमी और नवमी इन तीनों का यहाँ बड़ा माहात्म्य माना जाता था। वह स्थान था तो जंगल में। परन्तु इन दिनों में पचीस-तीस हजार यात्रियों का मेला वहां हो जाया करता था। हमारे आश्रम में इन तीनों दिन अनध्याय रहता था। प्रौढ़ विद्यार्थियों को मेला देखने के लिए ले जाने का निश्चय हो चुका था। मैं उस समय तेरह चौदह वर्ष का रहा हूंगा। अतः मैं गभस्तिगति, मृगप्लुत आदि को छोटे लड़के समझ कर अलग छांट दिया था। पर हमें इस पर बड़ा बुरा मालूम हुआ। मेला देखने की इच्छा तो बड़ी प्रबल थी। बालकों को मेला देखने की जितनी उत्सुकता होती है, उतनी बड़े लड़कों को नहीं होती। किन्तु यह

सुनकर कि गुरुजी उन्होंको मेला दिखाने को ले जाने वाले हैं, हमें गुरूजी पर मन ही मन बड़ा क्रोध आया। हम लोग आपस में गुरुजी को इस बात पर कोसने लगे। जो कई बार मेला देख चुके हैं उनको तो वे मेला देखने ले जा रहे हैं, और जिन्होंने मेला कभी देखा ही नहीं, जो देखने को उत्सुक हैं, उनको छोटे बच्चे समझ कर आश्रम में छोड़ जाते हैं, यह खासा न्याय है!

इसके उपाय के लिए मैं गभस्तिगति तथा और पाँच छः शिष्य मिल कर जरत्कारु गुरु के पास गये। उनका हृदय अति कोमल था। हमारी मनीषा यह थी कि हमारा आशय उन पर प्रकट करके उनके द्वारा कुलपति तक अपनी सिफारिश पहुँचावें और अपनी इच्छा को पूरी करें।

"गुरु महाराज," मैं बोला "काव्य ग्रन्थों में जो लिखा है कि बचपन सब से अच्छा होता है वह तो गलत मालूम होता है। बचपन तो एक महा पाप है।"

"क्यों? बचपन ने क्या बिगाड़ा, बेटा?" उन्होंने पूछा।

"हमें छोटे बच्चे समझ कर ही तो मेला देखने के लिए कोई नहीं ले जा रहे हैं? फिर बचपन पाप नहीं तो क्या है?"

तुम छोटे बच्चे हो इतनी दूर चल नहीं सकोगे।" वे बोले और यह उपदेश करने लगे कि "ऐसा उलटा हठ तुम्हें नहीं करना चाहिए" हमने कहा "हम चार चार पाँच पाँच कोस तो चल सकते हैं। पहले चले भी हैं" और अन्त को यह जोरदार दलील पेश की कि मेला बच्चों के देखने के लिए है या बड़ों के?" जरत्कारु गुरु ने उपराके मन से तो हमारे हठ का विरोध करके निषेध किया, लेकिन थोड़ी ही देर बाद सुलोचना को उनका

हाथ पकड़े कुलपति के पास ले जाते हमने देखा। हम लोग ताड़ गये कि वे हमारी सिफारिश करने के लिए ही वे जा रहे हैं। अब हमारे आनंद का वार पार न रहा। हम लोग क्षीरोदक सरोवर इस वर्ष देखेंगे, उसमें तैरेंगे। इत्यादि सुख-स्वप्न देख कर हम अपने आप को कृतार्थ समझने लग गये।

परंतु इस साल क्षीरोदक का या अंबिका माता का दर्शन हम लोगों के भाग्य में न था। कोस-आध कोस हम चले होंगे कि इतने ही में एक आम का पेड नजर आया। वृक्ष फलों से बेतरह लदा हुआ था। पतंग जिस प्रकार दीपक के ऊपर गिरा पड़ता है उसी भांति हमें उस पेड़ पर चढ़ने की अनिवार इच्छा हुई। हमारे साथ जो गुरुजी आये थे उन्होंने सौम्य रीति से हमें समझाया कि इस ढंग से खेलते-कूदते चलेंगे तो बड़ी देर हो जायगी और मेले का सारा आनन्द मारा जायगा। पर उनकी सुनता कौन था? जब उन्होंने देखा कि ये किसी प्रकार नहीं मानेंगे तब वृक्ष पर चढ़ने की आज्ञा उन्होंने दे दी। फिर क्या पूछना था? बंदरों की तरह हम दस बारह छात्र वृक्ष पर जा लपके। पेड़ के नीचे चारों ओर थुहर की कटीली झाड़ी लगी हुई थी। कांटे भी बिखरे पड़े थे। परंतु उनकी पर्वा कौन करता था? पर आश्चर्य तो यह था कि हम कई लोग जो पेड़ पर चढ़ने दौड़े उनमें से एक को भी कांटा नहीं चुभा। गभस्तिगति नीचे खड़ा रहा और नीचे आम डालने को मुझ से कहने लगा। दो चार आम मैंने फेंके भी। अब और दूसरे छोटे बच्चे वेतसांग आदि आम मांगने लगे। वेतसांग के लिए दो चार आम फेंके। उन्हें ले कर वह खुश हो गया और हरिणों को देखने लगा। उसकी पीठ मेरी

तरफ थी। इच्छा हुई कि कुछ दिल्लगी करूं। आम देने के बहाने एक आम उसकी पीठ पर फेंक मारने की पापेच्छा मेरे मन में हुई। पर मन में गुरुजी का डर था। लेकिन मैंने देखा कि वे भी हरिणों की ओर देख रहे हैं। मेरी तरफ उनका ध्यान नहीं है यह देखकर मैंने एक सड़ा सा आम वेतसांग को ताक कर फेंक मारा, और कहा "वेतसांग, यह आम संभाल।" किंतु ये शब्द मैं हवा में ही बोला हूंगा। क्योंकि आम फेंकते समय मुझे कोई ध्यान न रहा, और एका एक मेरा पाँव फिसला। ऊपर से मैं जो गिरा सो नीचे ठीक थूहर की झाड़ी में। हाथ पाँव पीठ सिर-सारे शरीर में काँटे चुभ गये। राम राम! उस समय के दुख की याद आते ही अब भी मेरे रोयें रोयें खड़े हो जाते हैं। पाँव में एक छोटा सा काँटा लगने से ही मनुष्य की कैसी अवस्था होती है! राजन् जरा ख्याल तो कीजिए, फिर मेरे तो सारे शरीर में काँटे चुभ गये थे। उनमें से कई काँटे टूट भी गये थे। मेरी आखों के सामने तो उस समय माता पिता की मूर्तियाँ खड़ी हो गईं। आखों में आँसू छल छला आये। कुलपति, प्रिय जरत्कारु गुरु, और उनकी सुलोचना के स्मरण से जी व्याकुल हो उठा। पर उस समय भी मेरे मन में यह विचार उठा कि भीष्म शरपंजर पर पड़े थे, उन्हें कैसा कष्ट हुआ होगा? इस समय तो इन सब बातों के कहने में बड़ी देर लग रही है। किंतु उस समय तो एक क्षण में ये सारे विचार मेरे मन में खड़े हो गये। मेरी सहायता के लिए हमारे गुरुजी और नीचे खड़े हुए छात्रगण दौड़े। परंतु वे मेरे पास कैसे आ सकते? मैं तो बिल्कुल थूहर के बीच में पड़ा था। काँटों में कौन आवेगा? इसी विचार में मैं था

कि गभस्तिगति अपनी लकड़ी के सहारे मेरे पास आ पहुँचा। परंतु उसके भी पाँव में आखिर कई काँटे चुभ गये। और वह वहीं रुक गया। गुरुजी ने कुछ दूसरे वृक्षों की डालियाँ काट कर काँटों पर डालने की आज्ञा दी। परंतु डालियों की राह कौन देखता है ? वे काँटों का ख्याल छोड़-छाड़ कर स्वयं काँटों में घुस गये। किंतु काँटों के मारे वे भी मुझ तक न पहुँच सके। खूब प्रयत्न किया, आखिर जैसे-तैसे बड़ी आपत्ति के साथ वे मेरे पास तक आये। श्वेतसांग, शशपाद आदि छात्र भी किसी प्रकार कष्ट से आ गये। चारों मिलकर मुझे उठाने लगे। लेकिन ऐसी बेतुकी जगह से मुझे उठा कर लेजाना मामूली बात न थी। पर आखिर वे करते भी तो क्या ? इसलिए उन्होंने किसी तरह मुझे उठाया तो, पर उठाते उठाते ही मुझे और भी कई काँटे चुभ गये और मुझे असह्य-वेदना होने लगी। इतने में अन्य छात्रों ने और भी कुछ डालियाँ वहाँ ला कर डालीं। तब कहीं उनके ऊपर पाँव रख के मुझे उठाने का काम कुछ सुलभ हुआ। मुझे उठाते ही कुछ काँटों वाली डालियाँ कपड़े में उलझ गई थीं वे भी मेरे साथ-साथ उठीं और तकलीफ देने लगीं। उन्हें सुलझा कर अलग करना बड़ा ही मुश्किल काम था। अब क्या करें ? गुरुजी भी खूब घबड़ा गये। आखिर बड़ी मुश्किल से वहाँ से मुझे बाहर निकाल कर अलग जमीन पर बहुत आहिस्ते से रक्खा फिर भी रखते समय चुभे हुए काँटे टूट गये और मुझे बड़ा कष्ट हुआ। फिर सब लोग मेरे शरीर से चुभे हुए काँटे निकालने लगे। एक तरफ के काँटे निकालते तो दूसरी तरफ के काँटे टूटते जाते थे-महा कष्ट था। वे लोग अपने बस भर बहुत ही हलके हाथ से

और सावधानी से काम ले रहे थे। वस्त्रों और शरीर से कुछ-कुछ काँटे निकाले बाद मुझे उठा कर वे आश्रम में ले आये।

उस समय गभस्तिगति मेरे लिए अपने प्राणों की भी परवाह न करते उस कांटों में कूद पड़ा और उसने मेरी जो सेवा की उससे मैं लज्जित हुआ। मैंने सोचा कि देखो ऐसे मित्र का मैं द्वेष करता था। मेरी अवस्था ऐसी हो गई कि कांटों तो खून नहीं। और तब से हमारा स्नेह और भी उत्कट और दृढ़ हो गया। कुलपति को यह हाल मालूम होते ही वे मेरे पास आये। मेरी दीन स्थिति देख कर वे प्रेम से बोले:—"बेटा धौम्य! तेरी कैसी दशा हो गई?" प्रेम के आवेग में उन्हें कांटों का ध्यान नहीं रहा और उन्होंने मेरी पीठ पर प्रेम से हाथ फिराया। हाथ फिरते ही चुभे हुए कांटे टूट जाने से और भी असह्य वेदना हुई, और मेरे मुख से विह्वलोद्गार निकला। इससे उनको बहुत दुःख हुआ और उनकी आंखें आंसुओं से भर आई। हमें कल्पना तक न थी कि वे इतने कोमल-हृदय होंगे। उनकी शांत, गंभीर, उग्र मुद्रा, उनका व्रत-कार्कश्य, शासन करते समय उनकी कठोरता देख कर हम तो यही सोचते थे कि वे बड़े ही निर्दय हैं। परन्तु उस दिन मेरा विश्वास हो गया कि वे अति मृदुल हृदय थे। और हम विशेष प्रेम और आदर की दृष्टि से उन्हें देखने लगे। कुछ दिनों बाद मैं चंगा हो गया। गुरू की कृपा, आशीर्वाद, मित्रों की सेवा-शुश्रूषा, निरामय और वर्धिष्णु बाल-शरीर इन में से अकेली एक एक बात भी मुझे अच्छा करने में समर्थ थी। फिर जहाँ सभी अनुकूलतायें थीं वहाँ यदि मैं जल्दी भी अच्छा हो गया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? इति पा० पु० तृतीयोऽध्याय समाप्तः।

चौथा अध्याय

प्रेमयज्ञ

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥ धौम्य ऋषि ने कहा "राजा हिरण्यगर्भ बचपन की बातें मैं चाहे कितनी ही कहता जाऊँ पर समाप्त नहीं होंगी। पर अब मैं तुम्हें वे नहीं सुनाऊँगा। नवयौवन की बातें ही आप लोगों को शायद अधिक प्रिय हों। इसलिए अब वही सुनाता हूँ।

मैं और गभस्तिगति दोनों ने उस आश्रम में एक तप से भी अधिक समय एकत्र व्यतीत किया। इस अवधि में वेद-वेदांग, षट्शास्त्र इत्यादि का अध्ययन हम कर चुके। लेकिन इस अध्ययन से इच्छा पूरी नहीं हुई। हमारी जिज्ञासा उलटी और बढ़ गई। यही इच्छा होने लगी कि इसी आश्रम में अध्ययन-अध्यापन करते हुए सारा जीवन व्यतीत करें तो क्या ही अच्छा हो। गुरु-जी और कुलपति भी इस समय हमारे साथ बराबरी का सा बर्ताव करने लग गये थे। आश्रम छोड़े बाद गृहस्थाश्रम में कैसा बर्ताव रखना, उसमें कैसे-कैसे मोह होते हैं, इत्यादि बातों के विषय में वे हमें बातचीत के सिलसिले में उपदेश करते रहते थे। उपदेश सुन कर एक दिन मैं बोल उठा "हमारी इच्छा है कि आजन्म हम इसी आश्रम में रहें। यह सुन कर गुरुदेव को बहुत ही आनन्द हुआ। वे बोले—"आगे तुम यहीं रहोगे तो हमें आनंद

ही होगा। जरत्कारु गुरु अब वृद्ध हो रहे हैं। विभांडक गुरु तो उनसे भी अधिक वृद्ध हैं। ऐसी अवस्था में उनसे परिश्रम लेना कदापि इष्ट न होगा। लोक-दृष्टि से छः महीने और हैं कि तुम्हारा विद्याध्ययन समाप्त हो जायगा। उस समय भी यदि तुम्हारी यही इच्छा कायम रही, तो तुम इसी आश्रम में अध्ययन-अध्यापन करते रहना। हम भी अब वृद्ध हो रहे हैं। तुम हमें पुत्र समान ही हो। इसलिए हमारा यह वानप्रस्थाश्रमी संसार धीरे-धीरे तुम्हें सौंपना ही अधिक उचित है।

कुलपति का यह गौरव युक्त और प्रेम-पूर्ण संभाषण सुन कर हमें जो आनन्द और अभिमान हुआ उसको यहाँ कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। गभस्तिगति ने और मैंने भी निश्चय कर लिया कि छः महीने में समाप्तविद्य हुए बाद, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए यहीं रहेंगे। परन्तु शीघ्र ही हमारे मार्ग में एक ऐसा विघ्न खड़ा हो गया कि हम दोनों में फिर द्वेष-भाव उद्भूत होने का प्रसंग उपस्थित हो गया।

बचपन में क्रीड़ा ने और उसके बाद जिस प्रकार विद्या ने मेरा हृदय आकर्षित कर लिया, उसी प्रकार अब, यौवन में एक युवती ने मेरा मन हरण कर लिया और सब से अधिक दुर्दैव की बात तो यह थी कि हम दोनों का चित्त चुराने वाली युवती एक ही थी। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जरत्कारु गुरु की सुलोचना नाम की एक पौत्री थी। उसीने हम दोनों को अपने रूप-गुणों के मोह-जाल में फँसा लिया। परन्तु उस बेचारी का क्या अपराध था? ईश्वर ने उसे सुन्दरी बनाया और उसके पितामह ने उसे सुविनीत किया। इसमें उस बेचारी का क्या अपराध? और

हमारा भी इसमें क्या अपराध था ? सुगंधित पुष्पों पर जैसे भ्रमर लुब्ध हो जाते हैं उसी प्रकार हम भी उसके सुकुमार, सुललित सौंदर्य और सद्गुणों से मोहित हो गये। यह दैव ही का दोप है, और किसी का नहीं। नारद, आप चाहे कुछ भी कहें। संसार में दैव कोई चीज है जरूर। हा ! दैव ! संसार में तू कैसे-कैसे अनर्थ ढाता है !

राजन् "मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि बाल्यावस्था में जिस समय हम जरत्कारु गुरु के पास पढ़ने जाया करते थे, सुलोचना भी वहाँ आ कर बैठती थी। उसके साथ हम कई बार खेले भी हैं। पर बाद में उसने हमारे साथ खेलना बंद कर दिया। शशिप्रभा, मालिनी अनसूया इत्यादि कन्याओं का स्नेह उसके साथ हो गया था।

हे नारद, आपको आश्चर्य होगा कि आश्रम में ये लड़कियाँ कैसे आयीं ? पर असल बात यों है। वास्तव में हमारे कुलपति आश्रम में स्त्रियों को रहने नहीं देते थे। परन्तु जरत्कारु गुरु जब से आश्रम में अध्यापन करने लगे, उसके पाँच-छः वर्ष बाद सर्पदंश के बहाने यमराज ने उनके पुत्र को संसार से उठा लिया। कुछ दिनों बाद उनकी पुत्र-वधू भी चल बसी। अब बेचारी सुलोचना अकेली, निराधार रह गई। जब जरत्कारु गुरुजी के ये हाल मालूम हुए तो वे बड़े चिंतित हुए, सुलोचना का लालन-पालन करने वाला सिवा उनके और कोई था ही नहीं। गुरुजी के सामने धर्म संकट खड़ा हुआ। लड़की को आश्रम में लाना स्पष्ट ही अनुचित था। पर उसे वे और कहीं भी तो कैसे रख सकते थे ? डेढ़ साल की बच्ची का पालन-पोषण कौन करता ? इस विपम स्थिति

को देख कर कुलपति ने कहा कि प्रत्येक बात में सारासार विचार कर लेना चाहिए। और उन्होंने यह तय किया कि सुलोचना को आश्रम पर ले आया जाय। नारद, भला बताओ, सिवा दैव के इसके लिए और कोई कारण हो सकता है कि हम दोनों सुलोचना ही पर प्रेमासक्त क्यों हों? क्या मालिनी इत्यादि और कन्यायें कम रूपवती थीं? उनमें से किसी ने हम दोनों में से एक का भी मन हर लिया होता तो क्या हर्ज था? रूप में, ज्ञान में, शील में, किसी बात में क्या वे कम थीं?

हे नारद, इस समय आवेश में यह प्रश्न मैंने पूछा तो सही। परन्तु उस समय वे सब हमें हर एक बात में कम ही दिखाई देती थीं। सुलोचना तो सुलोचना ही थी। उसकी बराबरी अन्य कन्यायें क्या कर सकतीं? माधुर्य की वह केवल मूर्ति थी। उसका मन भी उसके शरीर के जैसा ही कोमल था। जैसे उसका शरीर मोहक और मधुर-धवल था वैसा ही हृदय भी प्रेम-पूर्ण और शुद्ध था। उसका भाषण संगीत था। चेहरे पर सारे संसार का सौंदर्य खिल रहा था। अधिक क्या कहूँ उस मृगनयना के नयनों में सारा ब्रह्मांड भरा हुआ था। उसका केश-कलाप देख कर मयूर की याद आती। नासिका देख कर चंपककलिका आँखों के सामने खड़ी हो जाती। उसकी पतली बाहुएँ देख कर लता का भास हुआ करता था। उसके स्तन-कमंडलु की तरह और हृदय ऋषियों के अंतःकरण का सा शुद्ध और निष्कलंक था। उसका विनोद-विहार ऋषि कुमारों के समान निरागस और मधुर था, उसमें होमाग्नि का पावित्र्य और तेज और शब्दों में वेद-मंत्र का सामर्थ्य था। यदि संक्षेप में कहना चाहूँ तो वह हमारे आश्रम की अधिदेवता थी।

नारद, तुम सर्ववित् हो। यह तुम्हें बताने की जरूरत नहीं कि कामदेव मनुष्य को कैसा प्रमत्त और उन्मत्त कर देता है परन्तु नारद सोचो तो, कितने आश्चर्य की बात है कि कहां तो हमारा विद्याप्रेम और कहाँ अनंग द्वारा उस बालिका के मोहजाल में फँसाया जाना? हे मदन! तू विरुद्ध गुणों का मूर्तिमान पुतला ही है। अनंग होने पर भी अबलाओं को प्रबला कर देता है। शत्रु की तरह ताप देने वाला होने पर भी लोगों को प्रिय ही है। कोमल पुष्पों के तू तीक्ष्ण बाण बना लेता है और शीतल चंद्रज्योत्स्ना को तू अग्नि के समान संतापदायक बना देता है। मनुष्य की बुद्धि को तू मोह-निद्रा में ढकेलता है लेकिन शरीर को रात भर जगाता है। मित्र को तो तू शत्रु बना देता है और शूरों को अबला के सामने झुका देता है। हे कामदेव अन्य सैकड़ों शत्रु हों तो परवा नहीं। परंतु तेरे सामने तो बेचारे मनुष्य को हाथ ही जोड़ने पड़ते हैं।*

गभस्तिगति और मैं एक दूसरे के मन का हाल जान गये। हम में शत्रुत्व पैदा होने का ही मौका था। और कोई आदमी होता तो मैं उससे शत्रुत्व करता भी। परंतु उदार हृदय गभस्तिगति से मदन के कारण शत्रुता न करनी चाहिए यह सोचकर इस ख्याल

---

*इन चार पाँच श्लोकों में जो श्लेष है, और विरोधाभास अलंकार है उसका सौंदर्य अनुवाद में निबाहना कठिन है। इस कृत्रिम शैली से प्रतीत होता है कि यह पुराण महाकवि बाण के समय—सौ दो सौ वर्ष इधर या उधर—का होगा। अगले अध्याय के कुछ श्लोकों में तो बाण की पूरी नकल मालूम होती है। अथवा संभव है स्वयं बाण ने ही इस पुराण की शैली की नकल की हो।

से कि कहीं आपस में झगड़ा न हो जाय, यह बात उस पर प्रकट करने के लिए मैं उसके उटज की तरफ जाने लगा था कि समाप्रविष्ट होने पर हम दोनों जा कर जरत्कारु गुरु से सुलोचना के लिए अभ्यर्थना करें। फिर वे जिसे पसंद करके सुलोचना को दें वह अपने को धन्य समझे। गुरु ने मुझे नापसंद किया तो मैं तुमसे घृणा न करूँगा और न हमारे स्नेह में अंतर पड़ने दूंगा। यही अंतः करण पूर्वक आश्वासन देने के लिए मैं जानेवाला था कि इतने में स्वयं गभस्तिगति ही मेरे पास आया और बोलाः—"प्रिय मित्र धौम्य, मैं अभी कुलपति के पास गया था। हमारे दुर्विलासी प्रेम की कहानी मैंने उन्हें सुनाई, और पूछा कि मैं इस हालत में क्या करूँ? एक क्षण भर उन्होंने ध्यान किया। उस समय उनके चेहरे से मालूम होता था-मानों भूत, वर्तमान और भविष्य की सारी बातें उनके ज्ञानचक्षु के सामने खड़ी हो गई। उनके मुख से उद्गार निकलेः—'हरे राम'हरे राम!' यह दुख की बात है कि कामदेव हम दोनों में कलह-बीज बोवेगा। यह समझ कर ये उद्गार उनके मुँह से निकले होंगे। संभव है, और कोई संकट भी उनकी दिव्य दृष्टि को दिखाई दिया होगा। जो कुछ भी हो पर यह सच है कि वे एक लंबी सांस लेकर बड़े गांभीर्य, प्रेम और चिन्ता के साथ मानों कुछ नम्र हो कर, बोलेः—''गभस्तिगति, जब तक तुम इस आश्रम में ब्रह्मचारी हो तब तक इस बात का विचार बिलकुल ही छोड़ देने की कोशिश करो।

'परंतु विद्याध्ययन समाप्त होनेपर मुझे क्या करना चाहिए? एक तरफ प्रिय मित्र धौम्य के इष्ट साधने की इच्छा है। पर स्वहित बुद्धि मुझे दूसरी तरफ खींच रही है" मैंने कहा।

'गभस्तिगति' कुलपति बोले 'पत्नी हमारे अपने सुख के लिए है या उसके सुख के लिए ?'

'दोनों को मिल कर आनंदपूर्वक इस संसार का गाड़ा चलाना चाहिए मैंने जवाब दिया—

परंतु जब विरोध उपस्थित होता है तब ? कुलपति ने पूछा "उसके सुख पर अगर ध्यान देना हो तो उसके लिए तुझे अपने सुख का त्याग करना ही चाहिए !"

'मैं नहीं समझता कि उसे दुःख देकर मैं आनन्द का उपभोग कर सकूँगा ।'

'उसीको सुखी देखने की तुझे इच्छा हो तो तू यह सोच कि तुझसे सुलोचना को अधिक सुख होगा या धौम्य से ? तुम दोनों में से किससे विवाह करने से तुम्हारे ख्याल से उसे अधिक सुख होगा ?

मैं कुछ उत्तर न दे सका । उत्तर न मिलते देख कुलपति बोले:—"गभस्तिगति शायद धौम्य पर उसका प्रेम तुझ से अधिक है यही शंका तुझे है न, तेरे मौन का यही कारण है न ?

"हाँ, मैंने खिन्नतापूर्वक जवाब दिया ।

तब कुलपति बोले—"यदि तू उसीको सुखी देखना चाहता हो तो तुझे उसका लोभ छोड़ देना चाहिए ।' इस बात पर खूब सोच विचार करले । विकार वश न होना । मैंने तुम लोगों को जो उपदेश दिया है उसके सदृश वर्ताव रखना । इन्द्रियों का दमन करने में ही सच्चा पौरुष है । पशु के समान काम-वश नहीं होना चाहिए । काम के लिए तुम दोनों बाल मित्र आपस में वैरी न बनो । काम के आगे, स्नेह, मित्रता, गुरू, लोक-लाज, डर

कुछ काम नहीं देते, यह जो लोग कहते हैं वह सच नहीं है, यही बात तुम अपने वर्ताव से संसार में सिद्ध कर दो।

यह उपदेश सुनकर मैं बोला—मुझे क्या करना चाहिए ? यह आप ही बताइए। मैं वैसे ही करूँगा।

वे बोले:—'यह तो तू खुद ही सोच ले'।

यह सुनकर मैं उनके उटज के बाहर चला आया और अपनी पर्णकुटि में आ कर इस बात का विचार करने लगा। सोचते-सोचते मुझे यही स्पष्ट दिखाई दिया कि उसका तुमसे ही विवाह होना सर्वथा उचित है। तेरी बुद्धि मुझ से अधिक तीक्ष्ण है। तूने मुझसे ज्यादह ग्रन्थ पढ़े हैं। तेरी कल्पना, तेरी मार्मिकता मुझ में नहीं। तेरा स्वभाव मुझसे अधिक आनन्दी और उत्साही है। तू रसिक है। तेरे शरीर में मोहकता निवास करती है। मेरी बुद्धि धर्माभ्यास से जड़ हो गई है। मेरा स्वभाव भी उदासीन है। तेरा ढाढ़स, तेरी कर्तृत्वशक्ति मुझ में नहीं। तू जैसा क्रीड़न में चपल है वैसा ही बुद्धि में भी चतुर है। विनोद, हँसी ठट्ठा तुझे जितनी प्रिय है उतना ही तेरा मन निष्कपट और कोमल है। तेरे विनोद में माधुर्य और चटकीलापन होते हुए भी उसमें विष नहीं होता। मैं तो विनोद करना ही नहीं जानता। हास्य, क्रीड़ा, नम्र भाषण इत्यादि मुझे प्रिय नहीं। सुलोचना युवती है। क्रीड़न प्रिय है, विनोद प्रिय है। उसे काव्य में अभिरुचि है। वह तुमसे ज्यादह प्रेम रखती है। उसका तुझे ही मिलना सर्वथा उचित है। तुम दोनों का विवाह सब तरह से उचित और आनन्ददायक है। श्रद्धा जैसे धर्म-विधि की पवित्रता को बढ़ा देती है, वीर जैसा विजय श्री से अधिक तेजस्वी दिखाई देता है, संगीत से ललितार्थ का

आनन्द और भी बढ़ जाता है, वन श्री से वसंत विशेष मनोहर और रम्य हो जाता है उसी प्रकार हे प्रिय मित्र ! सुलोचना की संगति से तू भी अधिक तेजस्वी, अधिक पावन, अधिक मोहक होकर सबको आनन्द देता रह, यही मेरी इच्छा है। मित्र धौम्य, विद्या समाप्त होने के बाद अकेला तू ही जरत्कारु गुरु के पास जा और उनसे सुलोचना के लिए अभ्यर्थना कर। आज से मैंने यह विचार छोड़ दिया। हम दोनों में शत्रुता उत्पन्न होने का प्रसंग उपस्थित हो गया था। परन्तु कुलपति के उपदेश और आशीर्वाद से वह टल गया। प्रिय मित्र धौम्य ! मेरा यह निश्चय तुझ पर प्रकट करते समय मुझे कितना संतोष और कितना आनन्द हो रहा है इसका वर्णन करना मेरे लिए असंभव है। सुलोचना तुझे वरमाला पहनावेगी, उस समय तुझे जो आनन्द होगा, उसी आनन्द का अनुभव मैं इस समय कर रहा हूँ।

गभस्ति गति का यह भाषण मैं चुप चाप सुन रहा था ? बीच में मैं बोलता भी तो क्या कहता ? मेरे अनुकूल सा उसका निश्चय और उसके मुख से अपनी स्तुति सुन कर मुझे आनन्द होना स्वाभाविक ही था। लेकिन साथ ही मुझे कुछ लज्जा भी आई। क्योंकि एक तो मैं उसकी स्तुति का पात्र न था। और यदि था भी तो उसकी निरभिमानता और दिव्य स्वार्थ-त्याग के सामने मेरी बुद्धिमानी का मूल्य ही क्या था ? उसका इन्द्रिय दमन उसकी निरभिमानता, दूसरे के सुख के लिए उसका पवित्र निश्चय आदि देख भ्रांति मुझे यहीं होने लगी कि मैं किसी मानवी मित्र से बोल रहा हूँ या किसी दिव्य पुरुष से। मुझे संदेह होने लगा कि मैं जाग रहा हूँ या कोई दिव्य स्वप्न देख रहा

हूँ। यह भी विचार मन में आया कि ऐसे निःस्वार्थ प्रेम का अस्तित्व संसार में संभव है या नहीं? मैं शून्य दृष्टि से स्तंभित हो देख रहा था। कुछ सूझता न था कि मैं क्या करूं? यह देख कर वह बोला "मित्र क्या मेरी बात तुझे सच नहीं मालूम होती? गुरुजी के पवित्र चरणों का स्मरण करके मैं कहता हूँ कि अन्तःकरण पूर्वक ही यह सब कह रहा हूँ। सुलोचना के लिए तू ही सर्वथा योग्य है। मैं हृदय से चाहता हूँ कि उसका विवाह तेरे ही साथ हो। राजा नल के समान तेरा दूत-कर्म करने को भी मैं तैयार हूँ। लेकिन काम-मूढ़ इन्द्र के समान तू ऐसा काम करने के लिए मुझ से न कहेगा यह जुदी बात है। तू और सुलोचना आनन्द से रहो। इसीमें मैं प्रसन्न हूँ। अपने सदाचार से बुद्धि से, मार्मिकता से, जैसे तूने जरत्कारु, गुरु की प्रीति प्राप्त कर ली, वैसे ही उनकी पौत्री से विवाह करने के लिए भी तू ही योग्य है।

इसमें शक नहीं कि वे उद्गार उसके हृदय से निकले थे। परन्तु मैं यह जरूर देख सका कि उसे सुलोचना को दूसरे के सिपुर्द करते हुए कितना कष्ट होता था। उसने मेरी बुद्धि की श्रेष्ठता कबूल कर ली। परन्तु उसकी अभिमान हीनता, उसका अलौकिक आत्म-निग्रह उसका मित्र-प्रेम, इत्यादि देख कर मेरा अंतःकरण उसका दास बन गया। और मैं बोलाः—"मैं अधिक योग्य हूँ या तुम इसका निर्णय करने वाले हम कौन? भाई, तुझे अपने गुणों की परख नहीं है। तू बड़ा विनयशील है। मेरा ख्याल है कि सुलोचना के लिए तू ही अधिक योग्य है। धर्म और विद्या की जोड़ी जैसे फबती है, या उद्यम को बुद्धि की सहायता की

आवश्यकता है, उसी तरह तुम दोनों का सम्बन्ध अधिक अभि-नंदनीय है। सुस्वभाव से सरूपता का मिलाप लोगों को आनन्द देता है वैसा ही सुलोचना तेरी सहधर्मचारिणी होने से मुझे आनंद होगा, यह सत्य समझ।

मैंने उसे समझाया भी। परंतु उसने अपना हठ न छोड़ा। मैं कहता था कि हम दोनों साथ-साथ एक ही समय जरत्कारु गुरु के पास जा कर सुलोचना की याचना करें। उनको और सुलोचना को जो पसंद हो वह अपने को भाग्यवान समझ ले दूसरा अपना प्रेमाग्रह छोड़ दे। इसमें किसी एक के सिर कुछ दोष न रहेगा। परंतु उसने मेरी एक भी न मानी। वह यही कहता रहा कि—मेरा जो निश्चय एक बार हो चुका सो हो चुका। अब जिस दिन तुम दोनों का विवाह होता देखूँगा वही दिन सुदिन है। हमारे बीच यह-प्रेम-कलह चल ही रहा था कि वह प्रेम और कलह विपर्यीभूत सुलोचना वृद्ध पितामह का हाथ पकड़ कर संध्यावंदन के लिए उन्हें नदी पर लेकर जाती हुई दिखाई दी। हमें देखकर लज्जा ने उसने सिर नीचे झुका लिया। हम भी मारे शरम के अपना कलह वहीं खतम करके अपना-अपना काम करने चले गये।

इति श्री पाराशर पुराणे प्रेमयज्ञो नाम चतुर्थोऽध्याय समाप्तः।

शुभंभवतु॥

पाँचवा अध्याय

वरशोधनाज्ञा

॥ श्री गणेशायनमः ॥ धौम्य मुनि और आगे बोले "एक दिन वृद्ध जरत्कारु गुरु ने अपनी नातिन को पास बुला कर प्रेम से कहा—सुलोचना, तू देखती ही है कि मैं अंधा हूँ, मैं आश्रम को छोड़ कर जा नहीं सकता। इस लिए सावित्री के सदृश तू ही अपने पति को खोज ले। तू इस पवित्र आश्रम में छोटा से बड़ी हुई है और सावित्री के समान सदाचारप्रिय भी है। मुझे विश्वास है कि तू किसी ऐसे वैसे पुरुष को न चुनेगी। इसलिए तुझे जो वर पसंद हो या योग्य दिखाई दे उसका नाम मुझे बता दे जिससे मैं उसीके साथ तेरा विवाह कर दूं।

पितामह की यह बात सुन कर सुशील सुलोचना बोली—"बाबा मैं विवाह करना नहीं चाहती। मुझे तो आपकी सेवा ही प्रिय है। मैं विवाह कर लूँगी तो आपकी सेवा कौन करेगा? विवाह-बंधन से बद्ध हो कर जब मैं पति-सेवा करने लगूँगी तब अपनी ओर से हजार प्रयत्न करने पर भी आपकी सेवा में त्रुटि रहगी ही। इससे तो अच्छा यह है कि मैं विवाह ही न करूँ। बचपन से आपने मेरा प्रेम पूर्वक पालन-पोषण किया, विद्या पढ़ाई और विनीत मार्ग दिखाया। इनके बदले क्या मैं इस उम्र में

आपको छोड़ कर आपका उऋण होऊँ ? मुझे इस आश्रम को छोड़ना स्वीकार नहीं। आपकी सेवा को छोड़ कर मैं और कुछ भी करना नहीं चाहती। ”

उसका यह अकृत्रिम स्नेह युक्त उदात्त भाषण सुन कर उसके पितामह को स्वभावतः बड़ा आनंद हुआ, परंतु उन्होंने कहा “यह अनुचित हठ न कर। मेरी सेवा मेरे छात्रगण करेंगे। अब तू विवाह योग्य हो चुकी। इस उम्र में तुझे मेरी सेवा में लगाने से मुझे बड़ा ही पाप लगेगा। आदि ”। लेकिन उसने अपना हठ नहीं छोड़ा।

इति श्री पाराशर-पुराणे वरशोधनाज्ञा नाम पंचमोऽध्यायः समाप्तः। शुभं भवतु।
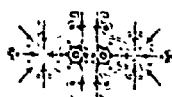
छठा अध्याय

सुलोचना-विवाद

कुछ दिनों बाद जरत्कारु गुरु ने सुलोचना को फिर अपने पास बुला कर कहा:—"सुलोचना, कई रोज से मैं तुझे कह रहा हूँ, पर तू मेरी बात पर ध्यान नहीं दे रही है। अपने ही हठ को पकड़े बैठी है। यह बात तेरे लिए उचित नहीं। मेरी सेवा तो हर कोई कर सकेगा। तुझे उसकी चिन्ता न करनी चाहिए। मेरा अंतकाल अब निकट आ पहुँचा है। मेरी आँखों के सामने तेरा विवाह हो जाय तो मेरे जी को समाधान होगा। मेरा विचार है कि इसी आश्रम में कोई वर तेरे लिए खोजूँ। परसों कुलपति की मुझसे इस विषय में कुछ बात चीत हुई। उनकी भी इच्छा है कि तेरा विवाह जल्दी हो जाय।

"बाबा, मैं आप को छोड़ कर कहीं जाने की नहीं। इस आश्रम को और आपकी इस कुटी को न छोड़ते हुए विवाह हो सकेगा तो मैं विवाह करूँगी।"

मुझे पता लगा है कि "हमारे इस आश्रम में गभस्तिगति और धौम्य अपना विद्याध्ययन समाप्त होने पर तेरे लिए अभ्यर्थना करने वाले हैं। इसलिए उनमें से तुझे कौन प्रिय है? देखूं, जरा कह तो।"

इस पर वह तन्वंगी कुछ न बोली। बेचारी कहती भी क्या? उसके हृदय में अंतः-कलह हो रहा था। एक तरफ़ वृद्ध पितामह के लिए अविवाहित रहने की उत्कट इच्छा थी; और दूसरी ओर विवाह की अनिवार्य अभिलाषा। हां, विवाह के बाद उसी उटज में रहने का निश्चय करने पर यह अन्तः-कलह तो कुछ शांत हो गया; परन्तु धौम्य और गभस्तिगति इन दो में से किसको पसंद करना, इस विचार से उसका हृदय द्विधा हुआ करता था। गभस्तिगति पर उसका सच्चा सात्विक प्रेम था; और वह योग्य भी था। क्योंकि उसका शील ही वैसा आदरणीय था। परन्तु मेरी विनोदप्रियता, मेरी उल्हासवृत्ति, मेरा बुद्धि-तेज, मेरा साहस, इत्यादि गुणों ने उस बेचारी का राजस प्रेम अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। गभस्तिगति उसको सूर्य के समान वंदनीय था; लेकिन मैं चंद्रमा की तरह उसे कमनीय और रमणीय मालूम होता था। वायु की लहरों में इतस्ततः झोंके खाने वाली लता के समान उसका अन्तःकरण दोलायमान हुआ करता था। ऐसी अवस्था में वह इस प्रश्न का क्या उत्तर दे सकती थी कि वह किसे पसंद करेगी?

मुनि जरत्कारु की भी दशा उसी के सदृश हो गई थी। सांसारिक आदमी की मति जिस प्रकार धर्म और अर्थ इन पुरुषार्थों में गोते खाती रहती है उसी प्रकार इस समय मुनि की भी अवस्था हुई। क्योंकि हम दोनों ही उनको धर्म के समान प्यारे थे। वे किसको पसंद करते? किस का भाग्य बड़ा था? जिस समय हम दोनों किसी पद्य का भिन्न अर्थ सुझाते, या भिन्न पाठांतर दिखाते उस समय उनकी मुख-श्री अनिश्चितता से कैसी व्याकुल हो

जाती थी, यह मुझे अच्छी तरह स्मरण है। फिर भला अपनी प्रिय नातिन के विवाह जैसे महत्वपूर्ण प्रश्न के विषय में उनका हृदय कितना व्याकुल हुआ होगा, इसकी कल्पना तो पाठक ही ठीक-ठीक तरह से कर सकेंगे। बात को बढ़ाने में क्या लाभ है? इसलिए मैं उसे संक्षेप में ही सुना देना ठीक समझता हूँ। हम दोनों के अर्थ-भेद या पाठ-भेद सुन लेने पर वे बहुधा मेरा बताया-पाठ या अर्थ ही ग्रहण किया करते। उसी तरह इस विषय में भी उन्होंने मुझी को पसंद किया। और उस गुरुजन-भक्त सुलोचना ने भी उन्हींके चुनाव का स्वीकार कर लिया। यह कहना आवश्यक है कि उनके आपस का यह निर्णय उस समय मुझे मालूम नहीं हुआ था। इसलिए मैं अनिश्चितता की गहरी खाई में ही गोते खा रहा था। विद्याध्ययन समाप्त करने पर और सर्वोपकारक्षम गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की अनुज्ञा कुलपति से आशीर्वाद पूर्वक प्राप्त करने पर मैं जरत्कारु मुनि से आशीर्वाद लेने के लिए उनके उटज पर गया। उन्होंने आशीर्वाद दे कर "सुलोचना ने तुझे मन से वर लिया है; अब विधियुक्त विवाह भी जल्दी होना चाहिए" ऐसी इच्छा दर्शाई। इस पर मैं क्या कह सकता था? फिर भी मैंने नीचे सिर झुका कर नम्रता पूर्वक कहा कि "मैं आप की आज्ञा से बाहर तो नहीं हूँ। तथापि इस विषय में कुलपति और पिताजी की अनुज्ञा लेना जरूरी है।" आगे का हाल संक्षेप में यही है कि जिस प्रकार गुरु अपनी विद्या सच्छिष्य को आनंद पूर्वक देते हैं उसी प्रकार अग्नि के सामने विधि-पूर्वक अपनी पौत्री जरत्कारु मुनि ने मेरे अर्पण कर दी।

विवाह के बाद कुलपति का आशीर्वाद लेने के लिए मैं फिर

उनके पास गया और विनीत भाव से पूछा "गुरु दक्षिणा क्या दूँ?" वे बोले "वत्स सौम्य, अपना जीवन सदाचार पूर्वक व्यतीत करके मेरी दी हुई विद्या को सार्थक करना यही मेरी गुरु-दक्षिणा है।"

मैंने उनको आश्वासन दिया:—"आप के सदुपदेश के अनुसार आचरण करके मैं अपनी विद्या को सार्थक करने की अवश्य कोशिश करूँगा।" और आगे बात-चीत करते-करते मेरे मुख से यह अपने आप निकल गया कि इस प्रिय आश्रम, आपकी इस पवित्र संगति, तथा सरस्वती देवी की ऐसी उज्वल भूमि को छोड़ कर जाना मुझे कष्टकर मालूम होता है।

"फिर तेरी क्या इच्छा है?" उन्होंने पूछा।

"यही कि यहीं पर अध्ययन-अध्यापन करता रहूँ तो बड़ा अच्छा हो। परन्तु—"

"क्यों, परन्तु क्या—?"

"परन्तु मैं अब विवाह कर चुका। इस लिए यह ब्राह्मणोचित पवित्र चरित्र-क्रम मेरे नसीब में कहां?"

मेरे इन आशा-रहित शब्दों को सुन कर वे बोले:—"यदि सचमुच तेरी यह इच्छा हो, तो तेरे विवाह से इस काम में बाधा नहीं आवेगी। इस आश्रम का यह नियम जरूर है कि गृहस्थ या गृहिणी को यहां न रहना चाहिए। परंतु हरएक नियम के अपवाद भी तो रहा करते हैं। जन्म से सुलोचना इसी आश्रम में रहती आई है, और तू भी इसी आश्रम में वर्षों से रह रहा है। ऐसी हालत में तुम दोनों को यहाँ रहने देने में हमें कोई आपत्ति न होगी। तुम दोनों हमें अपने बच्चों के समान हो। मैं तुम्हें अपने घर से कैसे बाहर निकाल सकता हूँ? इसके सिवा सुलोचना को

तुम्हारे साथ ले जाने से जरत्कारु मुनि की क्या अवस्था होगी ? उनकी देखभाल और रक्षा कौन करेगा ? तुम इस कुटि में रहोगे तो उनके अध्यापन का काम कर सकोगे और सुलोचना उनकी सेवा-टहल कर सकेगी। जरत्कारु गुरु को सुख देना तुम दोनों का कर्तव्य है। उस कर्तव्य में मैं बाधा नहीं डाल सकता, न डालूँगा। तेरे जैसा अध्यापक गृहस्थाश्रमी हो तो भी वह मुझे स्वीकार है।

इति श्री पाराशरपुराणे सुलोचनाविवाहो नाम षष्ठोऽध्यायः समाप्तः। शुभं भवतु ॥
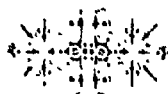
सातवां अध्याय

आश्रम में संसार

श्रीगणेशायनमः ॥ धौम्य ऋषि बोले "गभस्तिगति आश्रम में ही अध्यापक हो कर रहा। अब वह पहिले की अपेक्षा अधिक उद्यमशील और ग्रंथसंगति-प्रिय था। कठिन ग्रंथ बालकों के लिए सुगम हो जायँ इस लिए उसने अनेक ग्रंथों की टीकायें लिखीं। व्याकरण शास्त्र का एक महाभाष्य लिखा। ये सब बातें, नारद, तुम जानते ही हो।

हम दोनों की अध्ययन-अध्यापन की महत्वाकांक्षा भी पूरी हो गई और हमारा समय भी आनंद से बीतने लगा। विशेषतः मुझे यह सारा संसार प्रेम और आनंदमय दिखाई देने लगा। वे सचमुच धन्य हैं जिन्हें सुशील और सुविनीत पत्नी मिलती है, अपनी पत्नी की संगति में मैंने वे तीन चार साल जिस आनन्द के साथ आश्रम में व्यतीत किये, हे नारद मैं उनका वर्णन नहीं कर सकता। छोटे-छोटे बच्चों का मेरी पत्नी पर बहुत अधिक प्रेम था। वे उसे अपनी माता या बड़ी बहन के समान समझते थे। कुटी में नाना प्रकार की खाने की चीजें तैयार करके वह उन्हें खाने के लिए बुलाती रहती थी। एक बार एक नौ साल के छोटे बच्चे को आश्रम में आते ही सन्निपात हो गया।

उसकी शुश्रूषा मेरी पत्नी ने इतने अंतःकरण-पूर्वक की कि वह उसे अपनी माता ही समझने और कहने लग गया। उसकी देखा देखी आश्रम के अन्य बालक भी उसे 'मां' कह कर ही पुकारने लगे। उन बच्चों की उस पर इतनी भक्ति थी कि जब कभी कोई उम्दा से उम्दा पक आम्रफल या बदरीफल (बेर) अथवा कोई सुन्दर पुष्प या और कोई सुन्दर वस्तु वे पाते तो स्वयं उसका उपयोग नहीं करते, वरन वे चीजें मेरी पत्नी को पहले ला कर देते। प्रायः जब बच्चों को अन्यफल वगैरा, दिखते हैं तो वे चाहते हैं कि उन्हें वे खुद ही खा जावें; परन्तु इस आश्रम के बच्चे ऐसा नहीं करते थे। वे कुलपति, गुरु, या गुरुपत्नी को ऐसी चीजें ला कर दे दिया करते थे। यह गुरुजन-भक्ति कभी-कभी तो अत्यन्त उत्कट रीति से इस आश्रम में पाई जाती थी।

परन्तु अब बातें बढ़ाने से क्या लाभ है? मेरे कथन का थोड़े में यही सार है कि मेरी सहधर्म-चारिणी की सँगति में और आश्रम के प्रेमपूर्ण निष्कपट और गुरुजनभक्त छात्रगण के सहवास में मेरा समय बड़े ही सात्विक सुख और आनन्द पूर्वक व्यतीत हुआ। अध्ययन-अध्यापन के सिवा मुझे और कोई व्यवसाय ही न था। सुस्वरूप, नम्र, सुशीला, कोमल हृदया और प्रेमी-पत्नी। पूज्य और आदरणीय गुरुजनों का और अपने सच्छिष्यों का प्रेम, बहुत ही थोड़ों को नसीब हुआ करता है। इस समय हमें जो आनन्द हुआ करता था, उसके आगे ब्रह्मानन्द भी तुच्छ है, ऐसा ही ख्याल होता था। उस समय हमें दुःख या शोक का ज्ञान काव्य-ग्रन्थों के परि-शीलन से-अश्रुपात होमधूम्र से, वध केवल यज्ञकर्म में, द्वेष दुष्कर्मों का, आसक्ति सन्मार्ग की, स्खलन क्रीड़न में, कलह

काव्यार्थ के लिए और अभिमान विद्या ही के विषय में होता था। ऐसे स्थान और इस अवस्था का एक दिन के लिए भी जिस मनुष्य को अनुभव हो उसे सचमुच बड़ा भाग्यवान समझना चाहिए।

परन्तु, हे नारद, वह आनन्द मेरे दैव से न देखा गया। मेरी बाल्यावस्था की ब्रह्म-जिज्ञासा नष्ट हो गई इसलिए, अथवा दैव को मेरा सत्व देखना था इसलिए, मेरा वह दिव्य समाधान और उच्चतम आनन्दयुक्त वृत्ति थोड़े ही दिनों में नष्ट हो गई।

इति श्री पाराशर पुराणे आश्रम-सांसारिको नाम
सप्तमोऽध्यायः समाप्तः। शुभंभवतु।
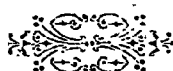
आठवां अध्याय

राज कोप

श्री गणेशाय नमः। धौम्य ऋषि फिर कहने लगे "मेरे पिता और श्वसुर का बीच में स्वर्गवास हो गया, यह बात मुझे पहले कह देनी चाहिए थी। किन्तु बातचीत के रंग में वह रह गई। माता का दुःख अब मैं भूलता जा रहा था कि इतने ही में पिता और श्वसुर की मृत्यु का दुःख सामने आया। किन्तु यह दुःख भी कालांतर से विद्याभ्यासंग में और पत्नी-समागम में मैं भूल गया। मालूम होता है इसी पाप के कारण मेरे सुख के दिन शीघ्र ही समाप्त हो गये।

इस समय अग्निमित्र मर चुका था और उसका पुत्र दिङ्नाग * राज्य कर रहा था। नारद, इस दिङ्नाग राजा का चरित्र जितना बुरा था, इसने प्रजा को जिस तरह दिक किया था, वे सारी बातें तुम अच्छी तरह जानते ही हो। पिता

---

*यहां पर कुछ श्लोक छोड़ दिये हैं। उनमें दिङ्नाग राजा के पूर्वजों की नामावलि के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। हाँ, इतिहास-संशोधन की दृष्टि से ज़रूर ये श्लोक बड़े महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि उस नाम-मालिका से यह महत्व-पूर्ण शोध लगता है कि दिङ्नाग के परदादा के परदादा का नाम "शरीपद" नहीं "शशपद" था। —अनुवादक।

का इकट्ठा किया हुआ सारा कोष इसने उड़ा दिया। मांडलिक राजाओं और प्रजा से हर प्रकार द्रव्य खसोटना इसने शुरू कर दिया। बेचारे गरीब प्रजाजन क्या कर सकते थे ? जो जो कर यह राजा बैठाता वह वह उसे देना ही पड़ता था। अब दिङ्नाग राजा की नजर ऋषियों के आश्रमों की तरफ भी गई। धान्य का षष्ठांश भाग राजा का होता है यह शास्त्र-वचन है। अतएव वह भाग या उसका मूल्य हम लोग राजा को पहुँचाया करते थे। किन्तु इस दुष्ट राजा की धन-लालसा इससे तृप्त नहीं हुई। धान्य के षष्ठांश के साथ ही साथ फल का षष्ठांश भी वह हम से मांगने लगा।

राजा के उपाध्याय के साथ इस विषय में शास्त्राधार की चर्चा और समझौता करने के लिए कुलपति ने गभस्तिगति को नगर में भेजा। उस कपटी धूर्तनाथ दिङ्नाग राजा ने उसका बड़ा ही आदर-सत्कार किया, और एक कनिष्ठ उपाध्याय के हाथ दश सहस्र निष्क उसके लिए भेज दिये। इन दश सहस्र निष्कों को गभस्तिगति ने घूस समझ कर लेने से इंकार कर दिया। "हम आश्रमवासी मुनि हैं। नगर बाहर के किसी मन्दिर में रहते हैं। छात्र और सेवकों के लिए पर्याप्त ओदनादि सामग्री भेज देने भर से हमारा सारा आदरातिथ्य हो सकता है। यह सन्देश भेजकर ऐश्वर्य और ऐशोआराम की मिहमानदारी का अस्वीकार करके वह एकदम नगर के बाहर चला गया। अस्तु

दूसरे दिन सुबह राजा का एक उपाध्याय गभस्तिगति के यहाँ आया और शास्त्रार्थ करने लगा। अपने अनुकूल क्षेपक श्लोक तैयार कर के उसने उन्हें अपनी पोथियों में घुसेड़ दिये थे।

उनके आधार पर उसने गभस्तिगति से क़बूल कराया कि राजा फल के भी षष्ठांश का अधिकारी होता है। गभस्तिगति बुद्धिमान और विद्वान भी था। वह जान गया कि श्लोक प्रक्षिप्त हैं। परन्तु उपाध्याय ने और भी दस पांच पोथियाँ मंगवा कर उसे दिखाईं। उन सब में गभस्तिगति को वे प्रक्षिप्त श्लोक दिखाई दिये। किन्तु सरल सात्विक-बुद्धि गभस्तिगति ने सोचा कि यह तो केवल स्वार्थ-बुद्धि का लक्षण है कि श्लोक प्रक्षिप्त है। फल जल्दी से विनाश होने वाला है इसलिए उनका षष्ठांश भाग न लेते हुए उसके बदले में द्विसहस्र निष्क आश्रम से राजा को हर साल दिये जावें यह ठहराव कुलपति की ओर से गभस्तिगति ने मन्जूर कर लिया।

आश्रम में उसके लौट आने पर यह हाल हमें ज्ञात हुआ। कुलपति ने कहा "ज्ञान और शील बेचने वाले स्वार्थ-साधु उपाध्यायों ने नये बनावटी श्लोक जान बूझ कर उन पोथियों में घुसेड़ दिये हैं।" लेकिन उन्होंने गभस्तिगति को कोसा नहीं। यही नहीं बल्कि उसके वचनानुसार द्विसहस्र निष्क भेज देने का निश्चय किया और भेज भी दिये। परन्तु जैसे अग्नि को हविर्भाग देने से वह अधिक वृद्धि पाता है, वैसे ही राजा का लोभ भी वृद्धिंगत हुआ और वह अब द्विसहस्र के बदले चतुः सहस्र निष्क मांगने लगा। इस लिए इस विषय में उससे चर्चा करने के लिए अब की बार कुलपति ने मुझे भेजा।

धन वगैरः दे कर मुझे भी वश करने का इलाज दिङ्नाग ने किया। लेकिन इस तरह का कपट-व्यवहार मेरे पास चलने का नहीं ऐसा वह थोड़े ही समय में जान गया। उपाध्याय से शास्त्र-

चर्चा शुरू करने पर उनका कपट जब मैंने उन्हीं के माथे मढ़ दिया; तब किसी तरह उन्होंने शास्त्र-चर्चा बन्द कर दी। राजा के सामने चर्चा करने से इनका मतलब यही था कि राजा के सामने राजा की पोथियों को झूठ और बनावटी कहने का मैं साहस न करूँगा। लेकिन राजा के सामने भी मैंने अपना कथन बड़ी ही नम्रतापूर्वक परंतु स्पष्ट रीति से कह दिया। राजा संतप्त हुआ और व्यंग में कहने लगा "हमारे राज्य की सब पोथियाँ अशुद्ध और आपके आश्रम की शुद्ध हैं? पहले तो द्विसहस्र निष्क देना कबूल कर लिया और अब वचन-भंग करना चाहते हो? इस तरह आरोप कर के ऋषिगणों को वह कोसने लगा। उसने यह भी धमकी दी कि अधिक दुराग्रह करोगे तो आश्रम को उध्वस्त कर दूँगा। उसकी यह धमकी सुनकर मैंने क्रुद्ध हो कर जवाब दिया—"बनावटी श्लोक लिखवा कर भोले-भाले ऋषियों को ठगने वाला राजा तो बड़ा सच्चा, और आश्रमवासी धर्मनिष्ठ ऋषिलोग झूठे, क्यों?" पर यह वाकलह बात-बात में बहुत बढ़ गया। राजा मारे क्रोध के लाल हो गया, और उसने अपने परिचारक को मुझे पकड़ने को आज्ञा दी। राजा की आज्ञा सुन कर मेरे शिष्य भी क्रुद्ध हो गये और मुझे पकड़ने के लिए आने वाले सरकारी परिचारक को उन्होंने मारे डण्डों के जमीन पर लिटा दिया। मैंने अपने शिष्यों को बहुत रोकना चाहा पर इतने में राजा के दो परिचारकों ने पीछे से आकर मुझे पकड़ ही लिया। उन्हें मेरे हाथ पाँव बांधते देखकर मेरे शिष्य और भी बिगड़े और वे मुझे छुड़ाने की कोशिश करने लगे। परंतु राज-सेवकों की तीक्ष्ण तलवारों के आगे वे कुछ न कर सके। मैं उन्हें शान्त

होने के लिए कह रहा था कि इतने में तलवारों की तीक्ष्ण धार के वश हो वे नीचे गिरे हुए मुझे दिखाई दिये।

राजा ने मुझे सेनापति के सुपुर्द कर दिया और नगर के बाहर वाले क़िले में कड़ी देखरेख में क़ैद रखने की आज्ञा दी। मुझे किले में तो रक्खा था, परन्तु धीरे धीरे मेरे साथ सौम्यता और आदरयुक्त बर्ताव भी किया जाने लगा। राजा ने मुझे कहलवाया कि यदि मैं कुलपति को राजा के विरुद्ध कुछ भी हाल न सुनाऊँ और उसी की इच्छानुसार काम करने पर राज़ी हो जाऊँ तो मेरा कारावास चल सकता है। इतना ही नहीं वरन उसने यह भी कहलवाया कि बलालंकार द्वारा आपका सत्कार करके मैं आपके आश्रम पर भिजवा दूँगा। यदि मैं कहने पर राजी न हुआ तो राजा ने मेरे प्राण लेने तक की धमकी मुझे दी। मैंने भी सोचा कि राजनीति में बिना कपट किये काम नहीं चल सकता। इसलिए मैंने राजा के परामर्श में बाह्यतः अपनी संमति होना प्रकट की, और यह मंजूर कर लिया कि हर साल चतुःसहस्र निष्क कुलपति द्वारा भिजवाता रहूँगा। मेरा मतलब यह था कि किसी प्रकार यहाँ से जान ले कर एक बार आश्रम पर तो लौट जाऊँ। फिर कुलपति से कहना सुनना तो अपने अधीन की बात है।

राजा यह सुन कर कि सब बातें मुझे मंजूर हैं, बहुत ही प्रसन्न हुआ। परन्तु भाई नारद, वह दुष्ट राजा भी बड़ा नीति-निपुण था। उसे मेरे कथन पर शक हुआ और उसने सोचा कि यह तो छूटने के लिए माया रची गई है। अब मुझे अपने प्राणों का अधिक खयाल है या आश्रम के अभिमान का, इसलिए उसने

एक और काम किया। एक दिन वह इंगितज्ञ राजा मेरे सामने कुलपति की निन्दा करने लगा। उसने सोचा कि यह निन्दा सुन कर मेरे चेहरे पर कुछ भाव बदलें या मेरे भाषण में कोप दिखाई दे तो समझना चाहिए कि मैं आश्रम का अभिमानी हूँ और ऐसा कुछ भी न हो और मैं चुप-चाप आश्रम और कुलपति की निन्दा सुन लूं तो यह समझना चाहिए कि मैं स्वार्थी हूं। मैंने उस-का हेतु पहचान लिया। और यह निश्चय कर लिया कि अपने चेहरे पर जरा भी दिल के भाव प्रकट न होने पावें। परन्तु जब राजा मर्यादा को छोड़ कर कुलपति को मनमाना भला बुरा कहने लगा और अन्त में मेरी प्रिय-पत्नी के विषय में भी अकथनीय बुरी बुरी बातें बकने लगा तब मेरा क्रोध अपनी सीमा को पार कर गया और मेरे मुख से कोप-युक्त आवेश पूर्ण शब्द निकल गये।

मेरा भाषण सुन कर दिङ्नाग राजा कुछ हँस दिया। अपनी युक्ति सफल होते देख उसे बड़ा सन्तोष हुआ। वह नीति-निपुण राजा जान गया कि कुलपति पर मेरी दृढ़ भक्ति है, और निर्लज्ज स्वार्थसाधु उपाध्याय की तरह मैं उसका हथियार न बन सकूँगा। वह गर्व से बोला 'तुम्हारी चालें मेरे सामने नहीं काम दे सकेंगी। अपने किये का फल तुम को शीघ्र ही मिल जायगा।'

राजा की धमकी सुन कर मैं क्रोध से संतप्त हो कर बोला— 'राजा जहाँ तक यह जीव देह की उपाधि से युक्त है और इस भूतल पर संचार कर रहा है वहीं तक न तू इस शरीर को पीड़ा पहुँचा सकेगा ? स्वर्ग में तेरा कुछ अधिकार है ?" यह सुन कर दिङ्नाग राजा धिक्कार पूर्वक हँस दिया और मेरी तरफ

मुड़ कर बोला:—"धौम्यर्षे आखिर तुम्हारी सारी तपस्या का अंतिम लक्ष्य स्वर्ग प्राप्ति ही न है, तो उसके लिए इतनी चिन्ता और प्रयास क्यों? लो मैं तुम्हें दो ही दिन में सीधा स्वर्ग को पहुँचा देता हूँ। वहाँ अपनी सारी मनः कामनाएं सफल कर लेना।" ऐसे कठोर और व्यंग पूर्ण वचन बोल कर राजा जोर से हँसा और अपने परिचारकों को आज्ञा दी कि इनको नगर के बाहर के बाल-दुर्ग में बिना अन्न पानी के रक्खो। और मुझ से कहने लगा—"धौम्यर्षे, इस उपवास के द्वारा तो स्वर्गद्वार जल्दी खुल जाते हैं न?"

दूसरे दिन राजा के उपाध्याय आ कर मेरे पास बैठे और और धीरे से बोले:-"धौम्यर्षे, मैं राजा का उपाध्याय हूँ। यह सच है कि राजा की आज्ञा से मैंने पोथियों में बनावटी श्लोक घुसेड़ दिये हैं। लेकिन यदि तुम्हारा यह ख्याल हो कि हम यह सब स्वार्थ के लिए ही करने पर हम तैयार हुए हैं, तो वह गलत है। ऐसा नहीं है। इस राजा की सेवा करने में स्वार्थ का कुछ भी संबंध नहीं है। तुम सत्य मानों मैं यदि राजा की सेवा नहीं करता तो दूसरे कई दुष्ट उपाध्याय मेरा स्थान ले लेने और इससे भी अधिक अधर्म प्रजा-जनों में फैलाते जिससे कि राजा के पाप और प्रजा के दुःख की कोई सीमा न रह जाती। धौम्यर्षे, क्या तुम ऐसा समझते हो कि राजा के ये सब कुढङ्ग हमें पसंद हैं?"

"परन्तु ये सब बातें विस्तारपूर्वक कहने को यह स्थान और समय योग्य नहीं है। इस समय तो मेरा यह कर्तव्य है कि आपको प्राण संकट से कैसे बचाऊँ। इस दिङ्नाग राजा ने यह निश्चय किया है कि आपको जंगल में अकेले ले जा कर मातंगों के हाथ मरवा डाले, और आपकी मृत्यु के विषय में कोई

असत्य वार्ता फैला कर वह अपने दुष्कृत्य को छिपाने की तजवीज में है। मुझे इस बात का किसी प्रकार पता लग चुका है। इसलिए ये तीन स्वर्णालंकार लीजिए। इन्हें अपने पास रखें। जब कभी ऐसा प्रसंग आवे तब इनकी लालच दिखा कर चतुराई के साथ अपने प्राण बचा लीजियेगा। मायावी लोगों से काम पड़ने पर सज्जनों को भी मायावी बनना पड़ता है, यह तत्व आपको नये सिरे से सिखाने की जरूरत नहीं है। आप खुद ये बातें जानते हैं अब मैं विदा होता हूँ। मेरी कही सारी बातें ध्यान में रखिएगा। मौका देख कर के काम कीजिएगा।

मैंने उनका वचन सुन कर सुवर्णालंकार रख लिये। दूसरे दिन तीन कृष्णवर्ण मातंग आये, उन्होंने मुझे पकड़ लिया, मेरी आँखें बाँध दीं, और मुझे उठा कर जङ्गल में ले गये। कुछ मार्ग आक्रमण करने पर किसी बहाने उनसे बात चीत करना मैंने शुरू किया। मेरा स्वभाव, मेरा धर्म ज्ञान, मेरी विद्वत्ता और मेरी आपत्ति का कारण इत्यादि बातें जान कर उनको अपने दारुण और निर्घृण कर्म पर लज्जा हुई। राजा हिरण्यगर्भ! वे तो जाति के मातङ्ग थे पर तो भी मेरी बात सुन कर उनका हृदय पानी पानी हो गया। और अब मेरा वध करना उनको बड़ा भारी पाप मालूम होने लगा। वे आपस में कुछ सलाह करने लगे। उनमें से किसी एक ने यह सलाह भी दी कि मुझे जीवित छोड़ कर राजा को झूठ मूठ कह दिया जाय कि मुझे मार डाला है।

"पर राजा की तो आज्ञा ही है कि इसका सिर मुझे दिखाना इसका कोई उपाय है?" दूसरा बोला।

तीसरा बोलाः—'हाँ, यह भी सच है। अगर हम इसका

सिर नहीं ले जावे तो राजा तलवार से हमारा ही सिर उड़ा देगा।'

पहला मातङ्ग बोला:—"इसकी एक तरकीब है। राजा को झूठ मूठ ही कह दें कि रास्ते में एक शेर उसे उठा ले गया। खून से भरे हुए कपड़े सिर्फ पड़े रहे। इसलिए सिर नहीं, सिर्फ उसके कपड़े ही हम लाये हैं।

यह बात सबको पसन्द हुई। और बाद में उन्होंने मुझे भी कह सुनाई। तब पहला मातङ्ग मुझसे बोला:—महाराज, एक विनय है। वह आपको स्वीकार करनी चाहिए। जब तक यह दिङ्नाग राजा जिंदा है तब तक इस राज्य अथवा अपने आश्रम में भी आप न जावें। आप आश्रम में जावेंगे तो भी इसकी खबर राजा को हुए बिना न रहेगी।

मैंने कहा:—ठीक है, तुम्हारा कहना मान्य ही है।

इतने में दूसरा मातङ्ग बोला:—'तुम्हारे जिन्दा होने की खबर तक किसी को न मालूम होने देना। एक दो को भी मालूम हो जाय तो खबर पट्कर्ण होकर दूतों के द्वारा राजा तक पहुँच जायगी। इसलिए अगर यह सौगन्ध खाने को तैयार हो कि घर वालों तक भी जिन्दा होने की खबर आप नहीं देंगे तो ठीक; नहीं तो मरने को तैयार हो जाओ।'

तीसरा बोला:—'हाँ यह भी ठीक है। इस ब्राह्मण के जिन्दा होने की खबर इसके माँ बाप को भी नहीं मालूम होनी चाहिए!

"मेरे माँ बाप तो अब इस संसार में नहीं है।" मैंने ठंडी सांस ले कर बड़े दुःख से कहा—"एक तरह से यह अच्छा भी है कि माँ बाप नहीं है। नहीं तो मेरे मारे जाने की खबर सुन कर उनका हृदय टुकड़े-टुकड़े हो जाता। दिङ्नाग जिन्दा है तब तक

मेरे जिन्दा होने की खबर किसी को भी नहीं होने दूँगा । मेरे प्राण तुमने बचाये हैं । इसलिए ऐसा कोई काम न करूँगा, जिससे तुम्हारे प्राणों पर किसी तरह का संकट आवे ।

'भगवान् की कसम खाओ'—तीसरा मातंग बोला

"सौगन्ध से क्या होता है?" मैंने कहा "लेकिन अगर तुम्हारी ऐसी ही इच्छा हो तो मैं यज्ञोपवीत और गायत्री की सौगन्ध खा कर कहता हूँ कि दिङ्नाग राजा जब तक गद्दी पर है तब तक मैं कभी न तो आश्रम जाऊंगा और न किसीको अपने जिंदा होने की खबर लगने दूँगा ।"

यह तय होने के कुछ समय बाद उन्होंने मेरे वस्त्र मांगे। उन्हें लेकर उन्होंने व्याघ्र के पंजों से फाड़ कर हिरन के खून में भिगो लिए । मेरे कपड़े देने के बाद मेरे नंगे बदन पर जब यज्ञोपवीत उन्हें दिखाई दिया तो उसे भी वे मांगने लगे ।

मैंने बहुतेरा कहा कि यज्ञोपवीत देने से मेरा ब्राह्मणपन जाता रहेगा । लेकिन उन्होंने कुछ न माना। * जो वे तीनों सुवर्णालंकार भी देना कबूल किया । परन्तु कुछ सफलता नहीं मिली । अन्त में यह विचार किया कि दूसरा यज्ञोपवीत पहन लेंगे । मैंने वह यज्ञोपवीत उतारा और उनके सिपुर्द कर दिया ।

नोट—त्रीन् 'सुवर्णानर्पयाम्यहम' ऐसा मूलग्रन्थ में पाठ है । मालूम होता है यहां पर 'सुवर्ण' शब्द का प्रयोग सुवर्णालंकार अथवा सुवर्ण के सिक्के के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । पर सुवर्ण का मतलब कहीं सावरिन् तो नहीं होगा । सुवर्ण-सवर्ण-सावरन सावरिन् । इस तरह क्या अंग्रेज़ी शब्द की व्युत्पत्ति होना असंभव है ?

वे बोले :—"सुवर्णालंकार लेकर हम क्या करें ? यज्ञोपवीत राजा को दिखाने से हमारे कथन पर उसका विश्वास बैठ जायगा।"

यह सुनकर मैंने सोचा:—'यज्ञोपवीत रख करके प्राणखोने से तो यज्ञोपवीत खोकर भी प्राण रक्षण करके धारण करना ही हितकारक है। यज्ञोपवीत दूसरा मिल सकता है। परन्तु गये हुए प्राण फिर नहीं मिल सकेंगे। यह सोचकर यज्ञोपवीत निकाल दिया और उसी जंगल की पहाड़ी गुफा में तप करता रहा।

इति श्री पाराशर पुराणे राजकोपो नाम अष्टमोऽध्यायः समाप्तः।

शुभं भवतु ॥

नौमा अध्याय

पुनः पल्लविता

श्रीगणेशायनमः। धौम्य ऋषि बोलेः—"दिङ्नाग राजा ने नगर में ऐसी वार्ता फैलाई कि ऋषि के शिष्य राजा को मारने दौड़े तब राज-रक्षकों ने उनको मारा। धौम्य ऋषि ने भी राजा को अनुचित और उद्धत जवाब दिये। इसलिए राजा ने उन्हें कैद कर रखा है। इसके बाद ऐसी अफवाह फैलाई कि मैं कैदखाने से भाग निकला। फिर उसने यह खबर फैलाई कि जंगल में घूमते हुए किसी शेर ने मुझे मार डाला। थोड़े ही दिनों में यह वार्ता आश्रम पर पहुँची।

"कुलपति और दूसरे सभी ऋषियों को विश्वास था मैं राजा को अनुचित उत्तर कभी न दूँगा। वे यह भी जान गये कि राजा ने हमारे उद्दण्ड बर्ताव की जो बात फैलाई है वह सब झूठ है। परन्तु कुछ दिनों बाद जब तलवार से काटी हुई शिष्य-जनों की लाशें और खून से भरे हुए कपड़े राजा ने आश्रम में भेज दिये

तब हमारी मृत्यु के विषय में किसी को भी शंका न रही। मेरा शिर और लोहू से भरे हुए कपड़े देखकर मेरी पत्नी ने कैसा विलाप किया उसकी कल्पना ही करना ठीक है। हे राजा पति-मृत्यु का दुःख इतना भयंकर है कि भगवान् उसे शत्रु की स्त्रियों को भी वह न दे। ऐसा महान् दुःख कोमल अबलाओं को ईश्वर क्यों देता है? वही जाने। किसी आश्रम हरिणी के व्याघ्रमुख में जाने का समाचार सुनकर जिनका प्रेमार्द्र अंतःकरण व्यथित होता है या किसी कोमलता का ढोरों के पाँवों तले कुचल जाना जिनके लिए बड़ा कष्ट कर होता है, शिशिर ऋतु की शुष्क प्राय लता या वृक्ष देख कर जिनका हृदय विव्हल होता है, जो लताओं को या वृक्षों को जल सेचन करने में उनसे भी कोमल अपने शरीर को कष्ट देती हैं, जिनका शरीर पर्जन्यसिक्त लताओं की तरह परिश्रमजन्य धर्मविंदु से भीग जाता है, ऐसी कोमल स्त्री जाति को ईश्वर ऐसे निर्घृण संकट में क्यों डालता है? क्या ईश्वर इतना निष्ठुर है? यदि कोई यह कहे कि यह ईश्वर की "लीला है, खेल है" तो यह सवाल उठता है कि उसको भयंकर खेल कैसे सूझते हैं? यही अचंभा है। पर नारद इन बातों का विचार न करना ही ठीक है।

"मनुष्य पर दुःख के चाहे कितने बड़े पहाड़ आन पड़ें, सर्व सहा वसुंधरा कहीं ऐसी बातों से विचलित होती है अथवा सम-दृष्टि सूर्य कहीं अपने दिन-क्रम को छोड़ता है? संसार में जो चाहे होता रहे सृष्टि और सूर्य के कार्य में कभी बाधा नहीं पड़ सकती। मेरी पत्नी को दुःखी देखकर कहीं दिनमणि उगने से थोड़े ही रह सकता था? और दिनमणि के समान तेजस्वी कुल-पति एवं अन्य इतर अध्यापकों के नित्य-क्रम में भी इस दुःख के

कारण क्यों कर बाधा आ सकती थी ? मेरी मृत्यु वार्ता सुनकर उन्हें दु:ख हुआ। परन्तु यह सोचकर कि धर्म कृत्य और नित्य-क्रम छोड़ देने से उसका प्रतीकार नहीं हो सकता उन धर्मज्ञ मुनिओं ने निरर्थक शोक करना छोड़ दिया। मेरा प्रिय मित्र गभस्ति गति भी दु:खित अंत:करणसे अपना नित्य क्रम करने लगा। होनहार के आगे वह भी क्या कर सकता था ?

"हे नारद ! अधिक क्या कहें ? कुछ दिनों बाद मेरी पत्नी का भी शोकभार बहुत कुछ कम होगया। एक दिन कुलपति उसका समाचार लेने आये। उस समय उस सुबुद्ध स्त्री ने उनसे पूछा— "अब क्या मुझे इस आश्रम में रहना चाहिए ?" कुलपति बोले धौम्यर्षि के न होने पर भी वह उटज तेरा ही है। यहाँ रहने में तुझे कोई संकोच न होना चाहिए। धौम्यर्षि तो चल बसा। परन्तु उसके पुत्र समान प्रिय छात्रगण तो यहीं हैं ?" "ये सब बालक तुझे "मां" कहकर पुकारते हैं। तूने भी उनको माता के समान रक्खा है। तेरे इन माने हुए पुत्रों को तेरे ही स्नेह का आधार है इसलिए अब यदि तू :—

"मुझे भी ये बालक पुत्र समान मालूम होते हैं। और जी होता है कि यहीं रहकर इन पुत्रों की शुश्रुषा करूँ और धर्म ग्रंथों का पठन कर के कुछ पुण्य संपादन करती रहूँ"।

"यह बात कुलपति को बड़ी प्रिय लगी और वे बोले:—"मैं भी यही कहने वाला था।" यह कहकर उचित उपदेश के द्वारा उसको शान्ति दिलाकर वे अपने काम पर चले गये।

"राजा ! इच्छा होती है कि अब आगे कहना कथा न की पड़े

तो अच्छा। लेकिन एक बार कथा आरम्भ करने पर उसे अधूरी छोड़ना ठीक मालूम नहीं होता। इसलिए अब सावधान चित्त होकर श्रवण करलो फिर एकान्त में इस पर मनन करना।

इति श्री पाराशर पुराणे पुनःपल्लविता नाम नवमोऽध्यायः समाप्तः।

शुभं भवतु ॥

दसवां अध्याय

पुनरुद्वाहोपदेश

श्री गणेशायनमः। धौम्य ऋषि बोले:—"उपर्युक्त घटना को लगभग दो वर्ष हो गये। मेरी पत्नी का शोक बहुत कुछ शांत हो चला। उसका प्रेम-पूर्ण मधुर हास्य आश्रम-बालकों को पुनः आनन्दित करने लगा। उसके मुख पर अब भी शोक की थोड़ी सी छाया थी जरूर। परन्तु इससे उसका स्वाभाविक सौंदर्य कैसे लुप्त हो सकता था? शोक-तमावृत होने पर भी वह चंद्रमुखी पूर्णिमा की रजनी के सदृश जनमनो-हारिणी थी। जैसे किसी लता की पत्तियों को हरिण-शिशु खा जाते हैं और वह विकलाङ्ग एवं बद-सूरत दिखती है पर वर्षाऋतु में वह फिर हरी-भरी हो जाती है। उसी प्रकार उसकी अवस्था हो रही थी। अथवा यों कहिये कि जैसे रजनी प्रातःकाल में औदासिन्य और रम्य शान्ति धारण करती है, ठीक उसी तरह मेरी पत्नी के मुख-कमल की शोभा उस समय आश्रम-वासियों को रम्य और शांत दीख पड़ती थी।

"गभस्तिगति वैसे बड़ा मनो-निग्रही और इंद्रिय-दमन करने वाला पुरुष था। परन्तु नारद अन्त में उसे भी विकार-वश होना पड़ा। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि मेरे लिए उसने किस प्रकार प्रेम-त्याग किया। उसका यह कितना भारी स्वार्थत्याग था?

परन्तु पता नहीं इस समय उसका वह इन्द्रिय-निग्रह, वह पाप-भीरुता, वह विद्या-व्यासंग सारा कहाँ चला गया। इस बार तो वह विकारवश ही हो गया। वह धर्मज्ञ था। मनोनिग्रही था। जितेन्द्रिय था। फिर भी उसके चित्त से यह विवाह कल्पना, प्रयत्न करने पर भी, नहीं हटती थी। अपने मन को रोकने की उसने खूब कोशिश की। परन्तु वह सब व्यर्थ हुई। जो काम, वसिष्ठ, वामदेव जैसे वृद्ध महर्षियों के लिए भी कठिन था, उसमें यदि गभस्तिगति व्यर्थ प्रयत्न हुआ तो इसमें कोई भारी आश्चर्य की बात नहीं है। मैं व्यर्थ दोष नहीं देता। नारद आप जो चाहे कहें, होनहार टल नहीं सकता।

"हे नारद, आगे का हाल कथन करना बड़ा ही कष्टकर है। अब मैं वृद्ध हो चुका हूँ। मैं अपने मुख से अपनी पत्नी के किंतु हाय! अब वह मेरी पत्नी कहाँ रही!! उसका मन दूसरे ही ने हरण कर लिया। वह मुग्धा, आश्रम-हरिणी के समान कामदेव के वश हो गई। गभस्तिगति धर्मवेत्ता था। वह भी धर्मज्ञा थी। फिर भी इस विषय में उनका कुछ उपाय न चल सका। विवाह की कल्पना अपने मन से दूर करने के लिए उन दोनों ने परस्पर मिलना-जुलना बंद कर दिया। परन्तु मनोगत प्रिय मूर्ति को कैसे दूर कर सकते थे? वे एक दूसरे को प्रत्यक्ष नहीं देखते थे परन्तु दोनों अपने मनश्चक्षुओं से एक दूसरे को पल भर दूर नहीं कर सकते थे।

गभस्तिगति ने अपना मन शांत और एकाग्र करने का खूब प्रयत्न किया। परन्तु उसका नतीजा कुछ न निकला। उलटे कामाग्नि अधिकाधिक प्रबल होने लगी। ब्रह्म-चिन्तन में चित्त

एकाग्र होने के बदले सुलोचना की मूर्ति के ध्यान में एकाग्र होने लगा। मेरी पत्नी ने भी नहीं नहीं—सुलोचना ने भी इन्द्रिय-दमन और मनो-निग्रह करने की अपनी शक्ति भर कोशिश की। परन्तु गभस्तिगति का तेजस्वी मुख-कमल उसकी आखों से दूर नहीं हो सकता था। और न मेरा मुख ही उसकी आँखों से अलग होता था। विवाह के पहले हम दोनों में से एक को पसंद करने के समय उसका मन जैसा दोलायमान था उसकी अपेक्षा इस समय वह ज्यादह व्याकुल थी। निशा समाप्ति के समय पश्चिम की ओर अस्तंगत होने वाले चंद्रमा और पूर्व की ओर उदय होने वाले तेजः पुंज भगवान सहस्त्ररश्मि, दोनों दीखते हैं; उसी तरह हम दोनों के मुख उसके मनश्चक्षुओं के आगे खड़े हुआ करते।

मनो-नियमन करने की गरज से गभस्तिगति अध्यापन में अधिक समय विताने लगा। उसने निश्चय कर लिया कि ऐसा जोरों से ग्रन्थ पठन शुरू कर दूंगा कि सुलोचना का विचार भी मन में नहीं आने पावे पर वह व्यर्थ हुआ! अध्ययन, अध्यापन खाते, पीते, बोलते, चलते, जल में, काष्ट में, पाषाण में सब दूर, जहाँ देखो तहाँ, उसे सुलोचना की वह मनो-मोहिनी मूर्ति नजर आने लगी। मानो वह तन्मय हो गया। गभस्तिगति जानता था कि पति मृत्यु के बाद स्त्रियों के लिए पुनरुद्वाह—पुनर्विवाह—करना धर्मशास्त्र के अनुसार मना नहीं है। वह यह भी जानता था कि सुलोचना से विवाह करने में कोई पाप नहीं है। तथापि उसका दिल यह भी कहता था कि वह विवाह न हो तो अच्छा। धर्म्मा-धर्म के विषय में उसके चित्त में संदेह होने लगा इसलिए उसने निश्चय किया कि कुलपति को वह सब हाल सुनाकर इसका

निर्णय करने का भार उन्हीं पर डाल देना चाहिए।

परन्तु कुलपति के पास सुलोचना पहिले ही चली गई और अपना सब हाल उन्हें सुना कर ऐसी परिस्थिति में प्राण त्याग करने का अपना विचार उसने कुलपति से कह सुनाया।

"प्राण त्याग करना धर्म नहीं है" कुलपति बोले "शरीर के मारने से क्या लाभ ? वासना मरनी चाहिए"

"शरीर में प्राण है तब तक तो वासना मरना असंभव है। इसलिए मरना ही बेहतर है।" वह बोली।

"सुलोचना ?" कुलपति बोले "तेरे मन में विवाह की वासना है। मरने से वह जाने की नहीं। उसे पूरा करने के लिए तुझे पुनर्जन्म लेकर स्त्री देह धारण करना होगा। इसलिए यदि सच्चे वैराग्य की जरूरत हो और आत्म-प्राप्ति की इच्छा हो तो तुझे अपने मन का ही नियमन करना होगा।

"परन्तु वह असंभव हो तब ?" उसने पूछा:—

"असंभव हो तो विवाह करले। हमारे शास्त्रों में स्त्रियों को पुनर्विवाह करने की अनुज्ञा है। हमारा शास्त्र इतना कठोर नहीं है। दिन-रात पाप-विचार और पाप-वासना मन में बेरोक आती रहे तो केवल शरीर को कैद करने से क्या लाभ हो सकता है ? इसके अतिरिक्त सुलोचना तेरी विवाहेच्छा मुझे विशेष पापमूलक नहीं मालूम होती। विवाह के समय ही तेरा प्रेम गभस्तिगति पर अधिक था। परंतु तूने यह नहीं पहचाना कि तेरा सच्चा सात्विक प्रेम किस पर है और तू राजस प्रेम का शिकार हो गई। जरत्कारु गुरु भी धौम्यर्षि को ही अधिक चाहते थे। इसलिए तेरे राजसप्रेम को पूरा मौका मिल गया। अस्तु। गभस्तिगति

की भी हालत तेरे ही जैसी होरही है। तुम दोनों के स्वभाव एक दूसरे से मिलते जुलते हैं। तुम दोनों धर्मशील और सुविनीत हो। तुम दोनों ने अपने सद्गुणों से एक दूसरे को अपनी तरफ आकर्षित कर लिया है। मन जब प्रेमबद्ध हो चुका तो शरीर को अब अलग रखने से क्या लाभ ? सुलोचना, अब मेरा कहा माने तो गभस्तिगति से विवाह कर ले। योग्य समय पर वैराग्य प्राप्त होने पर तुम दोनों वानप्रस्थाश्रम ग्रहण करना और तपस्या कर के ब्रह्मपद की प्राप्ति कर लेना। ऐसा करने से तुम दोनों को पुनर्जन्म नहीं धारण करना होगा। वासना के कायम रहते हुए लोक लज्जा के वश यदि तू देहवासन भी कर लेगी तो मेरी समझ में कुछ विशेष लाभ नहीं है।

आगे का हाल थोड़े ही में कह देता हूँ। पूर्णिमा के चंद्रमा के अस्त होने पर प्राची दिशा जिस प्रकार अपने आपको उदीयमान सूर्य को सौंप देती है—उसी तरह सुलोचना थोड़े ही दिनों में गभस्तिगति की धर्मपत्नी होकर उसकी संगति में शांत और सात्विक सुखोपभोग में अपना समय व्यतीत करने लगी।

इति श्रीपाराशर पुराणे पुनरुद्वाहोपदेशो नाम
दशमोध्यायः समाप्तः। शुभंभवतु।

———

ग्यरहवां अध्याय
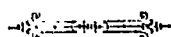
दैवयोग

श्रीगणेशायनमः। धौम्य ऋषि एक लंबी सांस खीच कर आगे कथन करने लगे "हे राजा, इस घटना को कोई सात आठ साल बीत चुके। बीच का हाल मैं न कहूँगा। क्योंकि उसमें कोई ऐसी बात नहीं है जिसका वर्णन करना जरूरी है। वन की गुफाओं में मेरी तपश्चर्या जारी थी। आश्रम में इस बीच क्या हो रहा है इसकी मुझे रत्ती भर भी कल्पना न थी। क्योंकि मातङ्गों को दिये हुए इस वचन का कि "दिङ्नाग राजा की मृत्यु होने के पहले मैं जीवित होने की बात प्रकट न करूँगा" मैंने अक्षरशः पालन किया था। उस दुष्ट राजा की मृत्यु की मैं राह देख रहा था। अन्त में आठ वर्ष बाद उसकी मृत्यु की खबर मेरे कानों पर पहुँची। उसे सुनते ही मैंने अपनी गुफा और तपश्चर्या छोड़ी और पन्द्रह दिन के भीतर मैं आश्रम पर आ पहुँचा।

आश्रम के आसपास का प्रदेश, पर्वत, वृक्ष, कुंए बल्कि

पानी के छोटे-छोटे पल्वल को देखकर मुझे एक अवर्णनीय आनंद हुआ। किन्तु प्रियपत्नी और मित्रों के दर्शन की अति उत्कट लालसा से मैंने इन बातों की तरफ़ विशेष ध्यान नहीं दिया। सायंकाल के समय मेरी कुटी और उसके पास ही मेरे लगाये मोर-सली इत्यादि के पेड़ नज़र आने लगे। इन जड़ वृक्षों को देख कर भी मुझे जो आनन्द हुआ, उसका वर्णन मैं नहीं कर सकता। परन्तु हे नारद मेरा वह आनन्द अधिक देर तक नहीं टिका। अपनी कुटी के पास पहुँचते-पहुँचते राह में मुझे वेतसांग नामक मेरा पहला सहाध्यायी मिला। उसने मुझे सुलोचना के पुनरुद्वाह की सारी कहानी सुनाई। उसे सुनते ही मेरा तो दिमाग़ चक्कर खाने लग गया। किसी तरह मैंने वेतसांग से विदा मांगी और वहाँ से पागल की तरह दौड़ता-भागता कुलपति की कुटिया पर पहुँचा।

उनका दर्शन पाते ही मैंने उनके चरण पकड़ लिये। मुझे देख कर वह बोले "अच्छा हुआ जो तुम आ गये।' मैं तुम्हारे आने ही की राह देख रहा था" इसपर मैं क्या जवाब दूं यह मुझे नहीं सूझा।

"सौम्य" वे आगे कहने लगे "वेतसांग से आपने अभी जो कुछ सुना उसने आपको निःसंदेह बड़े आश्चर्य और चिन्ता में डाल दिया होगा। ठीक है न? आप बड़े ही अचम्भे में पड़े होंगे और कुछ क्रोध भी आप को आया होगा।"

मैं कुछ नहीं बोला। पर हाँ उनका वह सम्मान सूचक सम्बोधन "आपको" मेरे कानों को कुछ अच्छा नहीं मालूम हुआ।

"बेटा धौम्य" वे बोले "तुमने विवाह अपने सुख के लिए किया था या पत्नी के सुख के लिए ?"

इस बार "बेटा धौम्य" इस संबोधन से मुझे बड़ा ही आनंद हुआ। अपनी पत्नी और कुलपति पर मुझे इतना गुस्सा आ रहा था कि उस अवस्था में मैं कुछ उत्तर ही नहीं दे सकता था। इस-लिए मैं अब भी एक शब्द न बोला।

"धौम्य" वे सौम्यता से फिर बोले "आठ साल वन में रह कर तुमने तपश्चर्या की है, तो भी तुम्हें विषय-सुख की लालसा अभीतक बनी ही हुई है। क्या अब भी तुम्हारी यही धारणा है कि विषय सुख में ही सुख है।

"नहीं। परंतु मेरी पत्नी—"

"उसने दूसरा विवाह कर लिया, इसमें उसका दोष नहीं है। मैंने ही उसे विवाह करने की आज्ञा दी है।"

"आपने ऐसी बात के लिए अपनी अनुज्ञा उसे कैसे दे दी ?"

"धौम्य, मैं सब कहे देता हूँ। शांतिपूर्वक सुन लो और विचार कर लो। सुलोचना सच्छील तो थी; परंतु बचपन से उसका प्रेम गभस्तिगति पर था। राजस प्रेम से अंधी हो कर और पितामह की इच्छा को आज्ञा समझ कर जब उसने तुम्हारे साथ विवाह कर लिया तब उसका वह प्रेम लुप्त हो गया। तुम्हारी मृत्युवार्ता सुनकर विवेक-पूर्वक उसने अपने इस प्रेम को कुछ समय तक सुप्त ही रक्खा। और अन्त तक भी रखना चाहती थी। परंतु हे धौम्य, कुछ समय बाद यौवन और उस प्रेम ने फिर जोर किया। अपने दिल को रोकने का खूब प्रयत्न किया। परंतु वह सफलता न प्राप्त कर सकी। जल में, थल में, काष्ट में,

पाषाण में, चारों तरफ गभस्तिगति ही की मूर्ति नजर आने लगी ? जब मनोनिग्रह करना उसके लिए अशक्य होगया तब प्राण-त्याग करना ही उचित समझ समझ कर उसने निश्चय भी कर लिया। यह हाल सुनते ही मैंने उस बात का विरोध किया और बताया कि आत्मनाश की अपेक्षा विवाह कर लेना भला है। धौम्य, तुम जानते हो कि कामना के कायम रहते हुए देहनाश करने से आत्म-शुद्धि नहीं होती। उसकी आत्मशुद्धि तुम्हें प्रिय हो तो उसे दोष देना व्यर्थ है। एक बार तुमसे विवाह करने का क्या यही फल है कि कोरा देहनाश ही नहीं, बल्कि वह अपनी आत्मनाश भी कर ले?"

'लेकिन दूसरा पति करने से क्या आत्मनाश नहीं होता ?" मैंने झुँझला कर पूछा।

"नहीं" वे आवेश से बोले "सब बातों पर ठीक-ठीक विचार करना चाहिए। धौम्य माता पिता के ऊपर तुम्हारा प्रेम था या नहीं? अगर था तो उनकी मृत्यु के बाद अपनी पत्नी के साथ सुखोपभोग क्यों कर रहे थे? माता-पिता की मृत्यु के बाद सर्वसुख का त्याग क्यों न कर दिया। मैं तुम्हें दोष नहीं दूंगा। मेरे कहने का मतलब यही है कि कुछ समय तक मानव-मात्र की सुख-प्रवृत्ति दुर्निवार है। यह सोचना गलत और अनुचित है कि कोई अपने प्रेमी मनुष्य की मृत्यु होने के कारण सदा के लिए दुःख करता रहे और सुख से वंचित रहे। मृत आत्मा भी यह नहीं चाहती कि उसके पीछे रहने वाले प्रेमीजन सदा उसके लिए दुखी रहें। क्या माता मरते समय कभी यह इच्छा करेगी कि उसका पुत्र उसके लिए आजन्म शोक ही करता रहे? पत्नी कभी यह चाहेगी कि पति अपना सारा

जीवन शोक ही में बितावे ? फिर भला पति भी ऐसी इच्छा क्यों करे ? सच पूछा जाय तो किसी सहृदय पति को यह इच्छा नहीं होनी चाहिए कि उसकी अल्पवयस्क पत्नी पति के मरने पर सदा दुःख ही में डूबी रहे और सारे सुखों का सन्यास कर दे ।

"पर मेरी धारणा है कि पुनरुद्वाह से स्त्री को सुख प्राप्ति भले ही हो सकती हो, किन्तु उसकी आत्मोन्नति तो नहीं हो पाएगी" मैंने कहा ।

"आत्मोन्नति भी होगी" वे बोले "मैं जानता हूँ कि दूसरा पति करने से पातिव्रत्य भंग का दोष होता है; किन्तु कई अबलाओं का मन उनके वश में नहीं होता । हजार कोशिशें करने पर भी प्रबल और गीता में कहे अनुसार 'प्रमाथिं इन्द्रिय ग्राम उनके मन को विकार वश कर ही देता है । हाँ, विवेकपूर्वक वे शरीर पर भले ही नियमंन कर सकती हों । किन्तु मन का नियमन करना तो उनके लिए दुर्घट है । वे कर्म से शुद्ध रह सकती हैं तो भी मन में तो विवाह की कामना रहा ही करती है । सारे जीवन भर उनका शरीर शुद्ध रहता है; किन्तु मन तो पापी ही बना रहता है । मेरे कहने का मतलब यह कदापि नहीं है कि यदि मन के वेग को हम न रोक सकें तो पाप के प्रवाह में बेशक बहते ही चले जावें । भला ऐसी शिक्षा कोई समझदार आदमी दे भी कैसे सकता है ? परन्तु यह जरूर देखना चाहिए कि दर असिल पाप क्या वस्तु है । क्या तुम्हारा यही ख्याल है कि विधवाओं का विवाह हमेशा पापात्मक ही है, कभी क्षम्य नहीं है, आपद्धर्म के लिए भी समाज उसका अंगीकार न करे, क्या यही तुम्हारा मत है ? शारीरिक-शुद्धि का महत्व अधिक या अंतःशुद्धि का ?"

"क्या आपका कथन यही है कि अन्य पति करने से अन्तः-शुद्धि बनी रहती है।" मैंने व्यङ्ग में कहा।

"हाँ" वे बोले "बनी रहती है! सच्चे वैराग्य की प्राप्ति और अखिल ब्रह्माण्ड को समता और प्रेम दृष्टि से देखने ही को आत्मोन्नति कहते हैं। दिन-रात सुखोपभोग की लालसा मन में होते हुए केवल ऊपर से धारण किया हुआ वैराग्य सच्चा वैराग्य नहीं है। जिसको सारा संसार अपने कुटुंब-वत दिखाई देता है, जो भूत-मात्र को समता और प्रेमदृष्टि से देख सकता है उसीका वैराग्य सच्चा वैराग्य है। यह स्थिति प्राप्त होने के मार्ग अनेक। विवाह न करके सन्यस्तवृत्ति से रहना भी एक मार्ग है। पर वह बड़ा ही कठिन है। कण्टक और मोहगर्तो से पूर्ण है। इसमें शक नहीं कि इस मार्ग से जाकर सफलता प्राप्त कर लेने वाले साधु वा साध्वी धन्य हैं। परन्तु इसके अतिरिक्त और भी सुसाध्यमार्ग है। जिसके सद्गुणों पर हम अनुरक्त हैं, जिसके समागम से हमारे मन में पवित्र विचार उद्‌भूत होते हैं, जिसका उदार अंतःकरण हमको उदारता की शिक्षा देता है, जिसकी निःस्वार्थ परहित-भावना हमारे स्वार्थ को लज्जित कर देती है। जिसका ज्ञान हमारे अज्ञान पटल को दूर करता है, जिसकी धर्मवृत्ति हमारे उच्छृंखल मन का नियमन कर सकती है, ऐसे प्रेमपूर्ण सात्विक महात्मा से विवाह करने की इच्छा यदि किसी कोमल-स्वभावा, अज्ञान अबला के मन में हो तो उसे, मैं पापिनी कहने को तैयार नहीं हूँ।"

"तात्विक दृष्टि से मुझे विवाद नहीं करना है" मैं शाँत हो कर बोला "आपकी सब बातें सच होंगी। परन्तु मेरे जीवित

रहते हुए भी आपने विवाह करने की अनुज्ञा कैसे दे दी। इसी-का मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है।

"इसका भी कारण उचित समय पर तुम्हें मालूम हो जायगा। धौम्य, ईश्वरी योगायोग कुछ विचित्र होता है। मनुष्यमात्र 'मेरा' धन 'मेरी' भार्या इत्यादि का वृथाभिमान रख कर खुदको दुखी कर लेता है। मनुष्य आज है, कल नहीं। 'मेरा घर' 'मेरी पत्नी' कहने में क्या रक्खा है? सुलोचना को क्या तुम्हारे ही सुख के लिए परमेश्वर ने बनाया है? उसकी आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं? धौम्य, पहले तुम्हारे लिए गभस्तिगति ने सुलोचना का ध्यान छोड़ दिया था। यौवनावस्था में ही उसने अपने प्रेम का त्याग किया। तुम तो अब तपश्चर्या कर चुके हो। इस उम्र में भी सुलोचना के ऊपर का अपना अधिकार छोड़ने को तुम तैयार न हो सके; तो मैं कहूँगा कि तुम्हारा हृदय अनुदार और क्षुद्र है। अब तुम जो सुलोचना को दुःख पहुँचाओगे तो यही सिद्ध होगा फिर तुम्हारा प्रेम और तुम्हारी प्रीति सात्विक न थी। बल्कि मैं तो कहूँगा कि वह अपने ही सुख की लालसा थी। 'न वाऽऽ जायाया: कामाय जाया प्रिया भवति' 'आत्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति' क्या उपनिषद् का यह वाक्य सच ही होकर रहेगा। धौम्य, तुम भी इस उपनिषद् वचन का अपवाद नहीं हो सकोगे? आखिर यही न कहना होगा में कि संसार में उच्च और निरपेक्ष प्रेम जैसी कोई चीज ही नहीं?"

"गुरुदेव, सुलोचना को दर्शन देकर उसे दुःख देना नहीं चाहता। न गभस्तिगति के सुख में मिट्टी मिलाना ही मैं चाहता हूँ। वे दोनों सुख से रहें और आनंद करें। आज से मैं इस क्षुद्र अहंकार को

छोड़ देता हूँ। मैं यह सिद्ध करके दिखला दूंगा कि अहेतुक उच्च श्रेणी का सात्विक प्रेम भी संसार में है। आपके उदात्त उपदेश और उदार उदाहरण के अनुरूप ही मैं अपना चरित्र बनाऊँगा। परंतु गुरुदेव, जब अन्तर्ज्ञान से आप जानते थे कि मैं जीवित हूँ, तो फिर इस कार्य के लिए आपने अनुमति कैसे दे दी? यही मुझे रहस्य मालूम होता है। इस शंका की निवृत्ति होते ही मैं यहाँ से रवाना हो जाऊँगा और उसी अपनी पहली गुफा में तपश्चर्या करता हुआ समय व्यतीत करूँगा।

"धौम्य, मेरा हेतु योग्य समय पर तुझे मालूम हो जायगा। तेरा निश्चय देख कर मुझे बहुत ही आनंद होता है। तेरे जैसे सच्छिष्य को देख कर किसे सन्तोष न होगा? धौम्य, सुलोचना भी अब पूर्ण विरक्त हो चुकी है। वे दोनों पति-पत्नी आज एक साल भर से असिधारा व्रत धारण किये हुए हैं। अब थोड़े ही दिनों में वे दोनों वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले हैं। तेरी अपत्ता भी सुलोचना अधिक विरक्त' यह वाक्य पूरा भी न होने पाया था कि इतने में एक बड़ा आर्तस्वर कानों में सुनाई दिया। हम तर्क करने लगे कि बात क्या है। इतने में छात्रों का शोक-स्वर हमें सुनाई दिया। कुलपति आसन से उठ कर खड़े हुए और कुटिया से बाहर आही रहे थे कि एक बाल-शिष्य घबराता और दौड़ता हुआ आया। उसने शोकाकुल स्वर से कहा "गुरुदेव गभस्ति-गति और सुलोचना माता की सर्प दंश से मृत्यु होगई। उनकी कन्या और पुत्र रोते हैं। उन दोनों के धड़ाम से गिरने की आवाज़ सुनकर हमने पहुँच कर साँप को मार डाला परंतु तब तक वे दोनों स्वर्ग को चल दिये।"

राजा हिरण्यगर्भ ! आगे का हाल अब मैं नहीं कहूँगा। आपने पूछा कि स्त्री को पुनर्विवाह करना चाहिए या नहीं, सो इसके उत्तर में मैंने अपना सारा हाल कह सुनाया। इस घटना को कई साल बीत गये हैं। तपश्चर्या से मैंने अपना मनो-निग्रह कर लिया है। सुलोचना के प्रति मेरा क्रोध अब शाँत हो गया है। मैं नहीं कह सकता कि उसका कार्य्य निंद्य है और न मुझे इस बात पर आश्चर्य हो रहा है कि कुलपति ने भी इसके लिए कैसे अनुज्ञा दे दी। उसका मृत्युकाल अंतर्ज्ञान से वे जान गये थे; इसलिए मृत्यु के पहले जितनी आत्म-शुद्धि और आत्मोन्नति हो सकती थी; उतनी कर लेने की उन्होंने आज्ञा दे दी। गभस्तिगति पर सुलोचना का पहले ही से सात्विक प्रेम न होता तो वे उसको अनुज्ञा न देते। अतएव मैं अब कह सकता हूँ कि उस परिस्थिति में उसने जो कुछ किया वह उचित ही था। लेकिन, भाई नारद, तुम तो अंतर्ज्ञानी हो। तुम जान सकते हो कि मेरा वह अभिमान अभी तक पूरा लुप्त नहीं हुआ है। अब भी जी में यही विचार आता है कि सुलोचना यदि अन्त तक मेरी ही होकर रहती तो कितना अच्छा होता !! परन्तु यह बातें मानव-शक्ति के बाहर की हैं। मुझे तो यह श्रद्धा है कि जो कुछ हुआ परमात्मा की इच्छा के अनुकूल ही हुआ। उसमें कोई ऐसी बात नहीं थी जो निन्द्य हो। हाँ, और अब इससे अधिक मैं क्या कह सकता हूँ।

इति श्रीपाराशर पुराणे दैवयोगो नाम एकादशोऽध्यायः समाप्तः।

शुभं भवतु ।

सस्ता-साहित्य-मंडल, अजमेर.

स्थापना सन् १९२५ ई०; मूलधन ४५०००)

उद्देश्य—सस्ते से सस्ते मूल्य में ऐसे धार्मिक, नैतिक, समाज सुधार सम्बन्धी और राजनैतिक साहित्य को प्रकाशित करना जो देश को स्वराज्य के लिए तैय्यार बनाने में सहायक हो, नवयुवकों में नवजीवन का संचार करे, स्त्रीस्वातंत्र्य और अछूतोद्धार आन्दोलन को बल मिले।

संस्थापक—सेठ घनश्यामदासजी बिड़ला (सभापति) सेठ जमनालालजी बजाज आदि सात सज्जन।

मंडल से—राष्ट्र-निर्माणमाला और राष्ट्र-जागृतिमाला ये दो मालायें प्रकाशित होती हैं। पहले इनका नाम सस्तीमाला और प्रकीर्णमाला था।

राष्ट्र निर्माणमाला (सस्तीमाला) में प्रौढ और सुशिक्षित लोगों के लिए गंभीर साहित्य की पुस्तकें निकलती हैं।

राष्ट्र-जागृतिमाला (प्रकीर्णमाला) में समाज सुधार, ग्राम संगठन, अछूतोद्धार और राजनैतिक जागृति उत्पन्न करनेवाली पुस्तकें निकलती हैं।

स्थाई ग्राहक होने के नियम

(१) उपर्युक्त प्रत्येक माला में वर्ष भर में कम से कम सोलह सौ पृष्ठों की पुस्तकें प्रकाशित होती हैं। (२) प्रत्येक माला की पुस्तकों का मूल्य डाक व्यय सहित ४) वार्षिक है। अर्थात् दोनों मालाओं का ८) वार्षिक। (३) स्थाई ग्राहक बनने के लिए केवल एक बार ॥) प्रत्येक माला की प्रवेश फीस ली जाती है। अर्थात् दोनों मालाओं का एक रुपिया। (४) किसी माला का स्थायी ग्राहक बन जाने पर उसी माला की पिछले वर्षों में प्रकाशित सभी या चुनी हुई पुस्तकों की एक एक प्रति ग्राहकों को लागत मूल्य पर मिल सकती है। (५) माला का वर्ष जनवरी मास से शुरू होता है। (६) जिस वर्ष से जो ग्राहक बनते हैं उस वर्ष की सभी पुस्तकें उन्हें लेनी होती हैं। यदि उस वर्ष की कुछ पुस्तकें उन्होंने पहले से ही ले रखी हों तो उनका नाम व मूल्य कार्य्यालय में लिख भेजना चाहिए। उस वर्ष की शेष पुस्तकों के लिए कितना रुपिया भेजना चाहिये, यह कार्य्यालय से सूचना मिल जायगी।

सस्ती-साहित्य-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें

(१) दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह—प्रथम भाग (महात्मा गांधी) पृष्ठ सं० २७२, मूल्य स्थायी ग्राहकों से ।≤) सर्वसाधारण से ॥)

(२) शिवाजी की योग्यता—(ले० गोपाल दामोदर तामस्कर एम० ए० एल० टी०) पृष्ठ १३२ मूल्य ।=) ग्राहकों से ।)

(३) दिव्य जीवन—पुस्तक दिव्य विचारों की खान है। पृष्ठ-संख्या १३६, मूल्य ।=) ग्राहकों से ।) चौथी बार छपी है।

(४) भारत के स्त्री रत्न—(पाँच भाग) इस में वैदिक काल से लगाकर आज तक की प्रायः सब धर्मों की आदर्श, पतिव्रता, विदुषी और भक्त कोई ५०० स्त्रियों की जीवनी होगी। प्रथम भाग पृष्ठ ४१० मू० १) ग्राहकों से ॥) दूसरा भाग दूसरे वर्ष में छपा है। पृष्ठ ३२० मू० ॥−)

(५) व्यावहारिक सभ्यता—छोटे बड़े सब के उपयोगी व्यावहारिक शिक्षाएँ। पृष्ठ १२८, मूल्य ।)॥ ग्राहकों से ≡)॥

(६) आत्मोपदेश—पृष्ठ १०४, मू० ।) ग्राहकों से ≡)

(७) क्या करें? (टॉलस्टॉय) महात्मा गांधी जी लिखते हैं—"इस पुस्तक ने मेरे मन पर बड़ी गहरी छाप डाली है। विश्व-प्रेम मनुष्य को कहाँ तक ले जा सकता है, यह मैं अधिकाधिक समझने लगा" प्रथम भाग पृष्ठ २३६ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)

(८) कलवार की करतूत—(नाटक) (ले० टाल्सटाय) अर्थात् शराबखोरी के दुष्परिणाम; पृष्ठ ४० मू० −)॥ ग्राहकों से −)।

(९) जीवन साहित्य—(भू० ले० बाबू राजेन्द्रप्रसादजी) काका कालेलकर के धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक विषयों पर मौलिक और मननीय लेख—प्रथम भाग-पृष्ठ २१८ मू० ।) ग्राहकों से ।=)

प्रथम वर्ष में उपरोक्त नौ पुस्तकें १६६८ पृष्ठों की निकली हैं

सस्ती-साहित्य-माला के द्वितीय वर्ष की पुस्तकें

(१) तामिल वेद—[ले० अछूत संत ऋषि तिरुवल्लुवर] धर्म और नीति पर अमृतमय उपदेश-पृष्ठ २४८ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥

(२) स्त्री और पुरुष [म० टाल्सटाय] स्त्री और पुरुषों के पारस्परिक सम्बन्ध पर आदर्श विचार-पृष्ठ १५४ मू० ।=) ग्राहकों से ।)

(३) हाथ की कताई बुनाई [अनु० श्री रामदास गौड एम० ए०) पृष्ठ २६७ मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥ इस विषय पर आई हुई ६६ पुस्तकों में से इसको पसंद कर म० गांधीजी ने इसके लेखकों को १०००) दिया है।

(४) हमारे जमाने की गुलामी (टाल्सटाय) पृष्ठ १०० मू० ।)

(५) चीन की आवाज़—पृष्ठ १३० मू० ।-) ग्राहकों से ≡)॥

(६) द० अफ्रिका का सत्याग्रह—(दूसरा भाग) ले० म० गांधी पृष्ठ २२८ मू० ।।) ग्राहकों से ।=) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(७) भारत के स्त्रीरत्न (दूसरा भाग] पृष्ठ लगभग ३२० मू० ॥-) ग्राहकों से ॥≡) प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(८) जीवन साहित्य [दूसरा भाग] पृष्ठ लगभग २०० मू० ।।) ग्राहकों से ।≡) इसका पहला भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

दूसरे वर्ष में लगभग १६५० पृष्ठों की ये ८ पुस्तकें निकली हैं

सस्ती-प्रकीर्ण-माला के प्रथम वर्ष की पुस्तकें .

(१) कर्मयोग—पृष्ठ १५२, मू० ।=) ग्राहकों से ।)

(२) सीताजी की अग्नि-परीक्षा—पृष्ठ १२४ मू० ।-) ग्राहकों से ≡)॥

(३) कन्या-शिक्षा—पृष्ठ सं० ९४, मू० केवल ।) स्थायी ग्राहकों से ≡)

(४) यथार्थ आदर्श जीवन—पृष्ठ २६४, मू० ॥-) ग्राहकों से ।=)॥

(५) स्वाधीनता के सिद्धान्त—पृष्ठ २०८ मू० ।।) ग्राहकों से ।-)॥

(६) तरंगित हृदय—(ले० पं० देवशर्मा विद्यालंकार) भू० ले० पं० पद्मसिंहजी शर्मा पृष्ठ १७६, मू० ।≡) ग्राहकों से ।-)

(७) गंगा गोविन्दसिंह (ले० चण्डीचरणसेन) ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों और उनके कारिन्दों की काली करतूतें और देश की विनाशोन्मुख स्वाधीनता को बचाने के लिए लड़ने वाली आत्माओं की वीर गाथाओं का उपन्यास के रूप में वर्णन—पृष्ठ २८० मू० ॥=) ग्राहकों से ।≡)॥

(८) स्वामीजी [श्रद्धानंदजी] का बलिदान और हमारा कर्तव्य [ले० पं० हरिभाऊ उपाध्याय] पृष्ठ १२८ मू० ।-) ग्राहकों से ।)

(९) यूरोप का सम्पूर्ण इतिहास [प्रथम भाग] यूरोप का इतिहास स्वाधीनता का तथा जागृत जातियों की प्रगति का इतिहास है। प्रत्येक भारतवासी को यह ग्रन्थ रत्न पढ़ना चाहिये। पृष्ठ ३१६ मू० ॥=) ग्राहकों से ॥-)

प्रथम वर्ष में १७१२ पृष्ठों की ये ९ पुस्तकें निकली हैं

सस्ती-प्रकीर्ण-माला के द्वितिय वर्ष की पुस्तकें

(१) यूरोप का इतिहास [दूसरा भाग] पृष्ठ २२७ मू० ॥-) ग्राहकों से ।=) (२) यूरोप का इतिहास [तीसरा भाग] पृष्ठ २४० मू० ॥-) ग्राहकों से ।=) इसका प्रथम भाग पहले वर्ष में निकल चुका है।

(३) ब्रह्मचर्य-विज्ञान [ले० पं० जगन्नारायणदेव शर्म्मा, साहित्य शास्त्री] ब्रह्मचर्य विषय की सर्वोत्कृष्ट पुस्तक—भू० ले० पं० लक्ष्मणनारायण गर्दे—पृष्ठ ३७४ मू० ।॥-) ग्राहकों से ॥-)॥।

(४) गोरों का प्रभुत्व [बाबू रामचन्द्र वर्म्मा] संसार में गोरों के प्रभुत्व का अंतिम घंटा बज चुका। एशियाई जातियां किस तरह आगे बढ़ कर राजनैतिक प्रभुत्व प्राप्त कर रही हैं यही इस पुस्तक का मुख्य विषय है। पृष्ठ २७४ मू० ।॥=) ग्राहकों से ॥=)

(५) अनोखा—फ्रांस के सर्व श्रेष्ठ उपन्यासकार विक्टर ह्यूगो के "The Laughing man" का हिन्दी अनुवाद। अनुवादक हैं ठा० लक्ष्मणसिंह बी० ए० एल० एल० बी० पृष्ठ ४७४ मू० १।=) ग्राहकों से १)

द्वितीय वर्ष में १६६० पृष्ठों की ये ६ पुस्तकें निकली हैं

राष्ट्र-निर्माण माला के कुछ ग्रंथों के नाम [तीसरावर्ष]

(१) आत्म-कथा (प्रथम खंड) म० गांधी जी लिखित-अनु० पं० हरिभाऊ उपाध्याय। पृष्ठ ४१६ स्थाई ग्राहकों से मूल्य केवल ॥=) पुस्तक छप गई है।

(२) श्री राम चरित्र (३) श्रीकृष्ण चरित्र-इन दोनों पुस्तकों के लेखक हैं भारत के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य एम. ए. (४) समाज-विज्ञान [ले० श्री चन्द्रराज भण्डारी]

राष्ट्र-जागृतिमाला के कुछ ग्रन्थों के नाम [तीसरा वर्ष]

(१) सामाजिक कुरीतियां [टाल्सटाय] (२) भारत में व्यसन और व्यभिचार [ले० वैजनाथ महोदय बी. ए.] (३) आश्रमहरिणी [वामन मल्हार जोशी] [४] टालस्टाय के कुछ नाटक

विशेष हाल जानने के लिए बड़ा सूचीपत्र मंगाइये।

पता—सस्ता-साहित्य मण्डल, अजमेर